भारतीय कालगणना

का

वैज्ञानिक एवं वैश्विक स्वरूप

सम्पादक- डॉ० रवि प्रकाश आर्य

कालगणना किसी भी राष्ट्र के नागरिकों की प्रबुद्धता एवं जागृति की सूचक है। यह मानवीय सभ्यता के विकास एवं उत्कर्ष की द्योतक है। कालगणना मानव द्वारा विभिन्न प्राकृतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक घटनाक्रम को कालक्रम के परिप्रेक्ष्य में देखने की योग्यता एवं चेतना का प्रतीक है। यह चेतना पृथिवी के किस खण्ड में कितने प्राचीनतम काल से विद्यमान है, इसका प्रामाण्य तत् तद्देशीय कालगणनाएँ है।

भारतीय कालगणना की सर्वाधिक प्राचीनता, सूक्ष्मता एवं वैज्ञानिकता इस बात का स्पष्टतया प्रतिपादन करती है कि मानव का प्रथमोन्मेष इस भूखण्ड पर हुआ एवं ऋषियों ने किसी व्यक्ति, जाति, देश एवं धर्म को आधार न मानकर 'काल' के मौलिक अस्तित्व को अङ्गीकार करते हुए काल के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश से लेकर बृहत्तम स्वरूप का परिगणन एवं प्रतिपादन किया।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में वेदों एवं प्राचीन भारतीय वाङ्मय में प्रतिपादित उक्त कालगणना के वैज्ञानिक एवं सार्वभौम स्वरूप का भलीभाँति वैदुष्यपूर्ण प्रतिपादन हुआ है। इससे भारतीय कालगणना का वैज्ञानिक आधार स्पष्ट होगा तथा विज्ञ पाठकों एवं संशोधकों के लिए एक स्पष्ट दिक् संकेत मिल सकेगा।
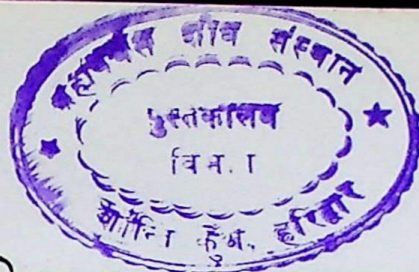
भारतीय कालगणना
का
वैज्ञानिक एवं वैश्विक स्वरूप

डॉ० रविप्रकाश आर्य

अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना
दिल्ली

प्रकाशक
अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना
बाबा साहेब आप्टे स्मृति भवन, केशवकुंज, झण्डेवालान,
नई दिल्ली – ११००५५

मूल्य 100.00/-

मुद्रक
हिमांशु लेज़र सिस्टम, ४६ संस्कृत नगर, से० १४, रोहिणी—११००८५
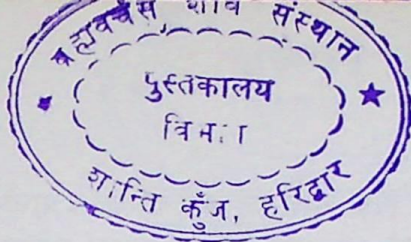
प्राक्कथन

कालगणना किसी भी राष्ट्र के नागरिकों की प्रबुद्धता एवं जागृति की सूचक है । यह मानवीय सभ्यता के विकास एवं उत्कर्ष की द्योतक है । कालगणना मानव द्वारा विभिन्न प्राकृतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक घटनाक्रम को कालक्रम के परिप्रेक्ष्य में देखने की योग्यता एवं चेतना का प्रतीक है । यह चेतना पृथिवी के किस खण्ड में कितने प्राचीनतम काल से विद्यमान है, इसका प्रामाण्य तत् तद्देशीय कालगणनाएँ है ।

विभिन्न देशों की कालगणनाओं के अध्ययन से इस बात का सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि उन देशों में विकसित बुद्धि वाले चिन्तनशील मानवों की उपस्थिति कब-कब रही होगी । विश्व की विभिन्न कालगणनाओं के तुलनात्मक अध्ययन से यह ज्ञात किया जा सकता है कि बौद्धिक रूप से विकसित मानव का प्रथम उद्भव पृथिवी के किस खण्ड पर हुआ होगा एवं तदनन्तर उसने कब किस-किस भूखण्ड की ओर निर्गमन किया होगा ।

भारतीय कालगणना की सर्वाधिक प्राचीनता, सूक्ष्मता एवं वैज्ञानिकता इस बात का स्पष्टतया प्रतिपादन करती है कि मानव का प्रथमोन्मेष इस भूखण्ड पर हुआ एवं ऋषियों ने किसी व्यक्ति, जाति, देश एवं धर्म को आधार न मानकर 'काल' के मौलिक अस्तित्व को अङ्गीकार करते हुए काल के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश से लेकर बृहत्तम स्वरूप का परिगणन एवं प्रतिपादन किया । करोड़ों वर्षों की दीर्घकालीन परम्परा में ब्रह्माण्डीय उत्पत्ति के सम्भावित समय का परिगणन करते हुए पृथिवी पर मानव उत्पत्ति के १९७ करोड़ वर्षों के इतिहास का संरक्षण सावधानी पूर्वक किया ।

इस दीर्घकालीन परम्परा ने काल की स्थूलगणना को तो सुरक्षित रखा ही इस गणना के आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी साथ-साथ किया । सर्वप्रथम तो आधुनिक वैज्ञानिकों एवं अन्य विद्वानों ने इस सुदीर्घ कालगणना को तथ्यविहिन मात्र बुद्धिविलास मानते हुए अस्वीकृत कर दिया, क्योंकि उनके मत में तो सृष्टि उत्पत्ति केवल ख्रिस्त से ४००० वर्ष पहले ही हुई थी । कालान्तर में ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक प्रगति हुई एवं भूगोल, भूगर्भशास्त्र, जीवशास्त्र, शरीरविज्ञान, खगोलशास्त्र एवं जीवोत्पत्ति विज्ञान के नूतन अनुसंधान समक्ष आये, आधुनिक वैज्ञानिकों की

पहली धारणाएँ ध्वस्त होती चली गई तथा कालक्रम प्राचीन भारतीय मान्यता के निकट स्थापित होने लगा। आधुनिक विज्ञान सम्मत अनुसन्धानों से जब भारत की पुराकालिक मान्यताएँ पुष्ट होने लगीं तो विश्व के लोगों का ध्यान भारतीय विज्ञान की ओर आकृष्ट होने लगा।

भारतीय इतिहास संकलन योजना का मुख्य ध्येय भारत का प्राचीन काल से लेकर आज तक का एक सर्वांगपूर्ण एवं अखण्डित इतिहास लेखन है। इतिहास लेखन कालक्रम पर आधारित है। इसके लिए एक वैज्ञानिक एवं सार्वभौम कालगणना की आवश्यकता अनुभव की गई जो कि धर्म, जाति, व्यक्ति एवं देश निरपेक्ष हो तथा जिसकी सहायता से प्राचीन से प्राचीनतम काल का परिगणन किया जा सके। ऐसी कालगणना केवल भारतीय कालगणना ही हो सकती है। जिसका प्रचलन हिन्दुओं ने करोड़ों वर्ष पूर्व किया एवं जिसका संरक्षण अखण्डित संकल्प परम्परा में किया गया। अतः प्रस्तुत कालगणना के वैज्ञानिक एवं वैश्विक स्वरूप का प्रतिपादन भी भारतीय इतिहास संकलन योजना के संयोजकों एवं विद्वानों के लिये अनिवार्य हो जाता है।

डॉ० रविप्रकाश आर्य ने वेदों एवं प्राचीन भारतीय वाङ्मय में प्रतिपादित उक्त कालगणना के वैज्ञानिक एवं सार्वभौम स्वरूप का भलीभाँति वैदुष्यपूर्ण प्रस्तुतीकरण करने का विनम्र प्रयास इस पुस्तिका में किया है। आशा है, इससे भारतीय कालगणना का वैज्ञानिक आधार स्पष्ट होगा तथा विज्ञ पाठकों एवं संशोधकों के लिए एक स्पष्ट दिक् संकेत मिल सकेगा।

मोरोपन्त पिङ्गले

संरक्षक

भारतीय इतिहास संकलन योजना
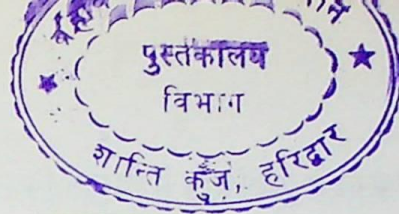
प्रस्तावना

विश्व के विभिन्न प्राचीन संवतों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि भारतीय कालगणना, जिसका समय १ अरब ९७ करोड़ २९ लाख ४९ हजार ९९ वर्ष परिगणित किया गया है, सर्वाधिक प्राचीन है। यह गणना वेदाङ्ग, पुराणों एवं मनुस्मृति में एक जैसी उपलब्ध होती है। इसके विपरीत प्राचीनतम से प्राचीनतम विदेशी कालगणना के ९ करोड़ ६० लाख २ हजार २ सौ ९४ वर्ष पूर्व चीन में प्रारम्भ होने के संकेत मिलते हैं। तदन्तर खताई कालगणना ८ करोड़ ८८ लाख ३८ हजार ३ सौ ६७ वर्ष पूर्व प्रारम्भ होती है। कालगणना के आरम्भ का तृतीय चरण मिश्री २ लाख ७६ हजार ५० वर्ष पूर्व एवं पारसी १ लाख ८९ हजार ९ सौ ५४ वर्ष पूर्व प्रारम्भ होता है। कालगणना के चतुर्थ चरण के प्रारम्भ होने के संकेत तुर्की, ईरानी तथा यहूदी गणनाओं से मिलते हैं जिनका प्रारम्भ महाभारत युद्ध से लगभग क्रमशः २५०६, ९०४ एवं ६६० वर्ष पूर्व तक सीमित था। शेष यूनानी (३५६९) रोमन (२७४७), ईसवी (१९९६), हिजरी (१४१६) तो अत्यन्त अर्वाचीन हैं।

इन सब कालगणनाओं के परिकलन से यह भली भाँति समझा जा सकता है कि भारत वर्ष को छोड़ कर भूगोल के अन्य भागों पर मानवी बुद्धि के विकास का प्रमाण १ अरब ८० करोड़ वर्ष बाद भारत वर्ष के ही सीमावर्ती स्थान चीन तथा खताई में उपलब्ध होता है, तदन्तर ७ करोड़ वर्षानन्तर मिश्र एवं पर्सिया में तर्क बुद्धि का प्रयोग करने वाले मानवों की उपस्थिति अनुभव की जा सकती है। इसके डेढ़ पौने २ लाख वर्षो के बाद महाभारत युद्ध के आस-पास ईरान, तुर्कीस्तान एवं इज़रायली भूखण्डों पर मानवता के होश हवाश सम्भालने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। यूनान एवं रोम में तो केवल तीन साढे तीन हजार वर्ष पूर्व ही विकसित मानव के संकेत मिलते हैं। शेष भूखण्डों पर तो सभ्यता का प्रसार मात्र एक दो हजार वर्ष पूर्व ही हुआ प्रतीत होता है। वस्तुतः कालगणना किसी जाति के विभिन्न घटनाक्रमों को कालक्रम से जोड़ने की योग्यता अथवा चेतना का प्रतीक है। यह चेतना भारत वर्ष में कितने प्राचीनतम काल से विद्यमान थी इस बात का प्रमाण तो एतद्देश प्रसूत कालगणना से प्राप्त हो सकता है। प्रायः विदेशी इतिहासविद् एवं कुछ भारतीय इतिहासविद् विष वमन करते रहे हैं कि प्राचीन हिन्दुओं में इतिहास कला का अभाव है। वे घटनाक्रमों को कालक्रम से

जोड़ना नहीं जानते थे इस विषय में विस्तृत विवरण के लिए प्रस्तुत लेखक का शोध लेख *History– Its meaning and Scope (Vedic theory of the Origin of Speech*, Parimal Publications, 27/28, Shakti Nagar, Delhi, Edition 1995, p.101) द्रष्टव्य है। आश्चर्य की बात हैं कि इस प्रकार के आरोप वे लोग अथवा ऐसे लोग लगाते रहे हैं जिनकी संस्कृति में केवल २००० वर्ष पूर्व ही कालगणना का विचार उत्पन्न हुआ। मात्र दो हजार वर्ष पूर्व तक के राजनैतिक घटनाक्रम को कालक्रम से जोड़ने का प्रयास करने वाले लोग अपने आपको इतिहास गुरु मानने की भूल कर रहे हैं। महानता की ग्रन्थि से ग्रसित ऐसे तथ्यहीन आरोप लगाने वाले इतिहासज्ञ यह बात भूल जाते हैं कि इस भूखण्ड पर उपस्थित मनीषियों ने तो करोड़ो वर्ष पूर्व घटित प्रकृति के घटनाक्रम को कालक्रम से जोड़ने का प्रयत्न किया है। उन्होंने न केवल प्रकृति के इतिहास किंवा सृष्टि के इतिहास को सुरक्षित रखा है अपितु कल्प के प्रारम्भ से अथवा सृष्टि उत्पत्ति के प्रारम्भ से कालगणना का संरक्षण करके स्वयं काल के इतिहास का भी संरक्षण किया है। हाँ यह विषय अलग है कि किसकी दृष्टि में किस घटनाक्रम का महत्व है। कुछ लोग तो घटनाक्रम के नाम से केवल राजनैतिक घटनाक्रम किंबहुना सामाजिक एवं धार्मिक घटनाक्रम को ही मानते हैं। उनके लिए केवल यही बात महत्वपूर्ण है कि किस व्यक्ति ने कब शासन किया, कितने युद्ध लड़े एवं कितनी हत्याएँ की। किस शासक के कितने पुत्र थे अथवा किसने किस को बन्दी बनाया। ऐसे विश्लेषणों में व्यस्त रहने वाले व्यक्ति यह भूल जाते हैं, कि संस्कृति का एक दूसरा पक्ष भी है जो भौतिकवादी न होकर अध्यात्मवादी है। जिसमें भौतिक उन्नति (प्रेय) को प्रधानता न देकर अध्यात्म अथवा ज्ञान (श्रेय) को प्रधानता दी जाती है। जिसमें इन बातों को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता कि शासक किंवा प्रशास्ता कौन है? कहाँ है? प्रत्युत इस बात पर बल दिया जाता है कि अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाले ज्ञान का प्रसार कहाँ तक हुआ है। ऐसी संस्कृति में विद्वानों को राष्ट्र की सीमाओं से बाहर माना जाता है। अतएव अर्थहीन राजनैतिक इतिहास किंवा व्यक्ति विशेष का इतिहास— जिसका सामाजिक निर्माण, चेतना एवं ज्ञान के प्रसार में कोई योगदान न रहा हो लिखना– ऐसी संस्कृति में अभीष्ट न था। उनको अभीष्ट था प्रकृति का इतिहास। सृष्टि की उत्पत्ति एवं प्रलय का इतिहास। सृष्टि में उत्पन्न विभिन्न जीवों की उत्पत्ति एवं विकास

का इतिहास। यही कारण था उन लोगों ने इन्हीं घटनाक्रमों को कालक्रम में आबद्ध कर प्रस्तुत किया।

प्रकृति के इस सुदीर्घकालीन इतिहास को कालक्रम में आबद्ध करने के लिये जिस वैज्ञानिक एवं वैश्विक कालगणना की सहायता ली गई उसके वैज्ञानिक एवं वैश्विक स्वरूप का विधिवत् प्रतिपादन ही अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना का ध्येय है।इस क्लिष्ट एवं कष्ट साध्य कार्य के प्रेरणा स्रोत प्रसिद्ध राष्ट्रवादी चिन्तक, भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के संरक्षक तथा अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना के अध्यक्ष, मान्यवर ठाकुर रामसिंह जी रहे हैं। मेरे पूज्य पिता रामनारायण आर्य, जो कि स्वयं एक प्रबुद्ध एवं प्रतिष्ठित वेदज्ञ हैं, का मार्गदर्शन निरन्तर बने रहने से इस कार्य की सहज पूर्णाहुति हो सकी।

अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना के संरक्षक श्रद्धेय श्री मोरोपन्त पिङ्गले जी ने प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की प्रैस कापी का आद्योपान्त अध्ययन कर अपने वैदुष्य पूर्ण एवं उत्कृष्ट सुझावों के साथ-साथ प्राक्कथन लिखकर प्रस्तुत ग्रन्थ के महत्त्व को बढ़ाया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के सुचारु एवं सुन्दर प्रकाशन के लिए परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली के अध्यक्ष, श्री के० एल० जोशी के प्रति विशेष आभार प्रदर्शन करना अप्रासंगिक न होगा जिन्होंने इस कार्य के महत्व को प्राथमिकता प्रदान करते हुए इसके प्रकाशन में पूर्ण सहयोग प्रदान किया।

वर्तमान कलि वर्ष ५०९९
वर्तमान कल्पाब्द १,९७,२९,४९०९९
ब्रह्माण्डोत्पत्ति वर्ष १५७१७२९४९०९९

डॉ० रवि प्रकाश आर्य
१०५१, सैक्टर-१
रोहतक-१२४००१
फोन-०१२६२, ४१५८०
E-mail: parimal@giasdla.vsnl.net.in

भूमिका
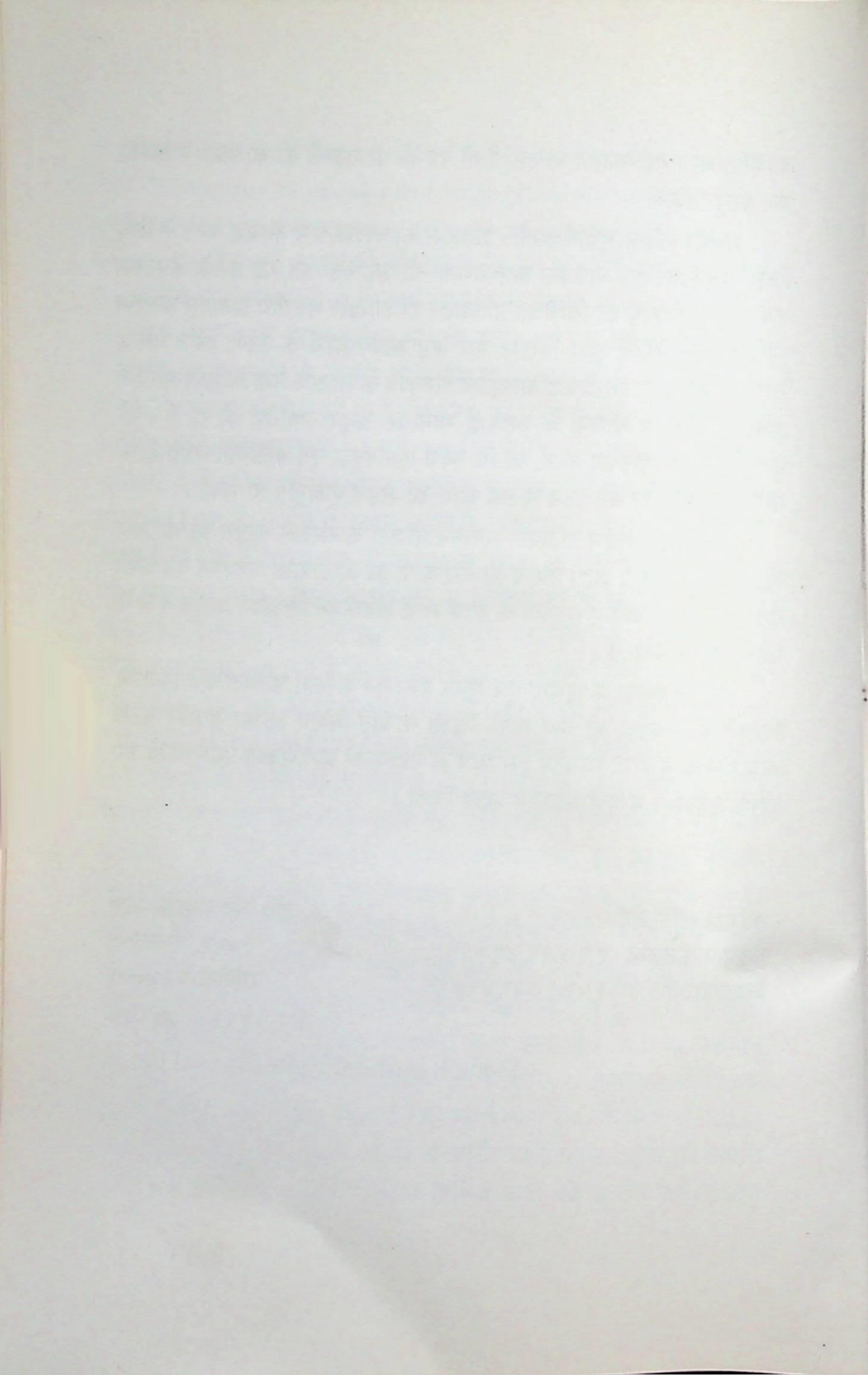
भारतीय कालगणना का प्रारंभ एवं वैशिष्ट्य

काल एवं कालक्रम

कालगणना का प्रसंग उपस्थित होते ही सर्वप्रथम प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह काल क्या है ? काल का concept अथवा विचार प्रकृति में सर्वप्रथम कब उत्पन्न हुआ ? कालक्रम का प्रारम्भ एवं परिसमाप्ति कब होती है ? इस प्रश्न पर भारतीय क्रान्तद्रष्टा ऋषियों ने सूक्ष्मता से विचार किया । निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के साधनभूत द्रव्यों के तत्त्वज्ञान के प्रसंग में काल को भी द्रव्य के रूप में परिगणित करते हुए वैशेषिक दर्शनकार महर्षि कणाद कहते हैं—

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि (११.५)

अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिग्, आत्मा, मन ये द्रव्य हैं । निःश्रेयस प्राप्ति हेतु इनका तत्त्वज्ञान अनिवार्य है ।

उपर्युक्त वैशेषिक दर्शन के चित्रण से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीयों की दृष्टि में काल के ज्ञान, अथवा काल के इतिहास का परिज्ञान अथवा सृष्टि चक्र के कालक्रम का परिज्ञान कितना महत्वपूर्ण था । उन्होंने केवल प्रकृति के घटनाक्रम का अध्ययन कालक्रम के परिप्रेक्ष्य में ही नहीं किया, अपितु स्वयं काल को भी अपने सूक्ष्म अध्ययन का विषय बनाया ।

काल शब्द की व्युत्पत्ति दर्शाते हुए प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् यास्क कहते हैं **कालः कालयतेर्गतिकर्मणः** (निरुक्त २.२५) अर्थात् काल शब्द गत्यर्थक कल् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर बनता है । इस व्युत्पत्ति से स्पष्ट हो जाता है कि काल का सम्बन्ध गति से है । परमेश्वर सब को गति प्रदान करता है अतः उसका नाम भी काल है । उपनिषद् में स्पष्टतया कहा गया है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

'अर्थात् इस विश्व में जो कुछ गतिशील है वह ईश्वर आवास्य है ।'

वस्तुतः मूल द्रव्य में प्रवाह के उत्पन्न होने पर ही काल का बोध होता है । काल गति अथवा परिवर्तन सापेक्ष है । जब तक परिवर्तन शील अथवा गतिशील

पदार्थ नहीं बनता तब तक काल का अस्तित्व सम्भव नहीं । सृष्टिक्रम चल पड़ने पर ही काल का भान होता है ।

ऋग्वैदिक अघमर्षण सूक्त के द्रष्टा माधुच्छन्दस कालोत्पत्ति की इस प्रकृति पर बहुत सुन्दर प्रकाश डालते है । उनका कहना है कि परमेश्वर (तप) के ऋत अर्थात् शाश्वत नियम में आबद्ध होकर सत्य अर्थात् प्रकृति तत्त्व उत्पन्न होता है । अथाह रूप से प्रवाहित होने वाले प्रकृति तत्त्व से संवत्सर उत्पन्न हुआ जिसकी दिन और रात्रि पलक झपकने एवं खोलने के समान छोटी से छोटी इकाइयाँ थी ।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो राज्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः । (ऋ. १०.१९०.१)
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी । (ऋ. १०.१९०.२)

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि दिन और रात्रि सृष्टि चक्र के प्रवाह के द्योतक हैं । अतः सृष्टि चक्र के प्रवाहित होने के आरम्भ से सर्वप्रथम जो दिन हुआ वहीं से कालचक्र का प्रवाह आरम्भ होता है । कालचक्र परिवर्तन अथवा कालप्रवाह के विभिन्न सोपानो के परिज्ञान हेतु कालगणना का आश्रयण लिया गया है । कालगणना भी कालगति सापेक्ष है अतः कालान्तर में काल के गत्यर्थक भाव को छोड़कर काल के गणना भाव का ग्रहण कर लिया गया है । यही कारण है कि वैदिक साहित्य में ही काल का गत्यर्थक भाव प्राप्त होता है वेदोत्तर काल में तो काल का गणनार्थक भाव ही प्रसिद्ध हो गया । काल शब्द की उत्पत्ति गत्यर्थक कल से न मानकर गणनार्थक कल (कल संख्याने) से मानी जाने लगी ।

भाविभवद्भूतमयं कलयति जगदेष कालोऽतः (कालमाधव उपोद्घात) चूंकि यह भविष्यत वर्तमान एवं भूतमय जगत की गणना करता है अतः इसका नाम काल है ।

भारतीय कालगणना का प्रारम्भ

अब प्रश्न यह उठता है कि भारतीय कालगणना का प्रारम्भ कहाँ से हुआ ? जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, भारतीय कालगणना के दो पक्ष हैं । प्रथम पक्ष तो ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के प्रारम्भ को परिगणित करता है । जिसके विषय में यह बताती है कि ब्रह्मा की आयु का प्रथम परार्द्ध अर्थात् ५० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं । जिसका अभिप्राय है कि प्रस्तुत ब्रह्माण्डीय उत्पत्ति के लगभग

१५७१७२९४९०९९ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। दूसरा पक्ष पृथिवी पर वर्तमान सृष्टि के प्रारम्भ एवं मानव की उपस्थिति का परिचय देता है। तदनुसार वर्तमान समय में ब्रह्मा की आयु के द्वितीय परार्द्ध का प्रथम कल्प (जिसका नाम श्वेत वाराह कल्प भी है) चल रहा है। इस कल्प के प्रारम्भ को १९७ करोड़ के लगभग समय व्यतीत हो चुका है। इस गणना को कल्पाब्द या सृष्ट्याब्द कहते हैं। क्योंकि इस कल्प के प्रारम्भ में ही पृथिवी पर प्राणी जीवन का संचार हुआ था। इस अहोरात्रमयी सृष्टि के कालक्रम का परिगणन कब कहाँ से प्रारम्भ हुआ ?

वेद में प्रथम कल्प के प्रारम्भ अर्थात् पृथिवी पर सृष्टि प्रारम्भ काल के संदर्भ में संकेत मिलता है कि अहोरात्र जिसके पार्श्व स्थान है तथा नक्षत्रों से जिसकी पहचान होती है ऐसी सृष्टि का मुख अश्विनी नक्षत्र है। इस विषय में निम्न यजु द्रष्टव्य है—

श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम।

इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान कालगणना के आरम्भ में (यजु. ३१.२२) पृथिवी की कक्षा और विषुवन्मण्डल का सम्पात अर्थात् वसन्त सम्पात (भूमध्य रेखा पर सूर्य का ९०° का कोण बनाना) अश्विनी नक्षत्र के आरम्भ में था। कालगणना के प्रारम्भ के इस ऐतिहासिक तथ्य को सुरक्षित रखने के लिए भारतीय मनीषियों ने अश्विनी नक्षत्र को ही कालगणना का आधार बनाया। इसे स्थिर गणना अथवा निरयण गणना भी कहा जाता है। चूंकि पृथिवी की कक्षा और विषुवन्मण्डल का सम्पात ५० विकला अथवा सैकेण्ड प्रतिवर्ष के हिसाब से पीछे की और खिसकता रहता है। इस तरह से यह सम्पात बिन्दु प्रत्येक ९६० वर्ष में पिछले-पिछले नक्षत्र में जाता रहता है। तथा २५९२० वर्ष के अन्तराल में पुनः उसी नक्षत्र में आ जाता है। इसे ही अयन गति या Precession कहा जाता है। इस सम्पात बिन्दु अर्थात् अयनगति को आधार मानकर जो गणना की गई वह चलगणना अथवा सायन (अयनगति सापेक्ष) गणना कहलाती है। यह सम्पात विभिन्न समयों में विभिन्न नक्षत्रों में होता रहा है। आजकल वसन्तसम्पात पूर्वभाद्रपद में तथा शिशिरसम्पात उत्तरफाल्गुनी नक्षत्र में होता है। इसी प्रकार उत्तरायण (Winter solistice) मूल नक्षत्र में तथा दक्षिणायन (Summer solistice) मृगशिरा नक्षत्र में होता है। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में सम्पात विषयक या अयन विषयक उपलब्ध होने वाले विवरणों के आधार पर हम वर्तमान समय में नक्षत्रों की स्थिति को दृष्टिगत रखकर पीछे गणना करके उन ग्रन्थों के काल का निर्धारण यथावत् कर सकते हैं। उदाहरण के लिए शतपथ ब्राह्मण के— **एता**

कृत्तिका प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते— के इस कथन के आधार पर उस समय वसन्तसम्पात के कृत्तिका नक्षत्र में होने के संकेत उपलब्ध होते हैं। आज कल वसन्तसम्पात, जैसा पूर्व निर्दिष्ट किया गया है, लगभग ७०.८° पीछे पूर्वभाद्रपद में चला गया है अतः ७२ वर्ष में १° अयनगति के पीछे खिसक जाने की गणना के आधार पर ७०.८ x ७२ =५०९८ वर्षों के लगभग अर्थात् ३१०२ ख्रिस्त पूर्व के आस-पास शतपथ का न्यूनातिन्यून समय ठहरता है। उसी प्रकार ऋग्वेदादि ग्रन्थों में अश्विनी नक्षत्र में उत्तरायण से वर्षारम्भ की सूचना मिलती है।

वर्तमान समय में उत्तरायण १३३° के लगभग पीछे मूल नक्षत्र में आ चुका है। अतः अश्विनी नक्षत्र में उत्तरायण का काल आज से ७२ x १३३ =९५७६ वर्ष अर्थात् ७५०० ख्रिस्त पूर्व सुनिश्चित होता है। अश्विनी नक्षत्र में उत्तरायण की उक्त स्थिति को ९५७६ वर्ष पूर्व देखकर भारत एवं विदेश स्थित बहुत से हमारे विद्वान् मित्र ऋग्वेद की रचना को ९५७६ वर्ष अर्थात् ७५०० ख्रिस्त पूर्व के लगभग मानने का दावा करते हैं। परन्तु वह यह भूल जाते हैं। कि सम्पात विषयक अथवा अयन विषयक ठीक वैसी ही स्थिति प्रत्येक २५९२० वर्ष के बाद पुनरावृत्त होती रहती है। इस प्रकार अकेले कलियुग में लगभग १६ बार, अकेले द्वापर में लगभग ३२ बार, त्रेता में लगभग ४८ बार एवं सत्युग में ६४ बार वही स्थिति दोहराती है।

अतः वैदिक वाङ्मय के काल निर्धारण के लिये सम्पात विषयक अथवा अयन विषयक गणित का ज्ञान ही आवश्यक नहीं, प्रत्युत युगों, महायुगों एवं मन्वन्तर स्थितियों का सही ज्ञान भी अत्यावश्यक है यहीं कारण है कि तिलक आदि इतिहासकार कृत्तिका आदि नक्षत्रों में वसन्तसम्पात अथवा उत्तरायण आदि का विश्लेषण करते हुए युगों एवं महायुगों की गणनाओं को भूलकर इतिहास के कालक्रम का निर्धारण करते हुए इतिहास के साथ न्याय न कर पाए, अपितु इतिहास के साथ उपहास करते रहे (विस्तृत विवरण के लिये देखिये लेखक द्वारा सम्पादित 'ऋग्वेद संहिता' परिमल पब्लिकेशन्स 1997, Introduction PPxxi-xxiv.) जहाँ तक वेदों की उत्पत्ति के काल निर्धारण का प्रश्न है वैदिकी परम्परा में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि वेदों की उत्पत्ति वर्तमान सृष्टि के आदि में हुई। स्वयम्भू ब्रह्मा ने चारों वेदों का उपदेश किया। कालान्तर में समय-समय पर जब यह ज्ञान विलुप्त होने के कगार पर आया तो क्रान्त द्रष्टा ऋषि महर्षियों ने इसे पुनर्जीवित किया।

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वम् अनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

इस प्रकार से वैदिकी परम्परा में स्मरण किया गया आदि स्वयम्भू ब्रह्मा कल्पारम्भ में अर्थात् १९७ करोड़ वर्ष पूर्व उत्पन्न स्वयम्भू ब्रह्मा था जिसके नाम पर ही प्रथम मन्वन्तर का नामकरण भी स्वायम्भुव किया गया। तथा अश्विनी नक्षत्र में वर्षारम्भ भी १९७ करोड़ वर्ष पूर्व ही होता था उस समय सभी ग्रह अश्विनी नक्षत्र अथवा मेष राशि में थे। अतः प्राचीनतम ऋग्वेद की परम्परा १९७ करोड़ वर्षों से प्रारम्भ होती है न कि ९५७६ वर्ष पूर्व से। हाँ, महाभारत काल में ५०९९ वर्ष पूर्व अर्थात् ३१०२ ख्रिस्त पूर्व इनका व्यस्तीकरण कृष्णद्वैपायन व्यास द्वारा सम्पन्न हुआ।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि किसी भी प्रकार के कालक्रम का सही निर्धारण उस समय तक असम्भव होगा जब तक उसमें युगों, महायुगों एवं मन्वन्तर स्थितियों का सही निर्धारण नहीं हो पाता। यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि जिन ऋतम्भरा प्रज्ञा से सम्पन्न वैदिक ऋषियों ने काल की सूक्ष्मातिसूक्ष्म इकाई से लेकर नैमित्तिक एवं प्राकृत प्रलय पर्यन्त काल का परिगणन किया है वह सब मनोविनोद हेतु, कल्पना प्रसव नहीं है अपितु ठोस वैज्ञानिक नियमों एवं तथ्यों पर आधारित है जिनका अन्वेषण लाखों वर्ष पूर्व किया जा चुका था। वर्तमान विज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है कि लगभग २ अरब वर्ष पहले पृथिवी पर प्राणी जींवन के संचार के संकेत मिलते हैं। जहाँ आधुनिक विज्ञान की गणना लगभग के अनुमान पर आधारित हैं वहाँ हिन्दुओं की गणनाएँ यथावत् अर्थात् exact एवं accurate मापदण्ड प्रस्तुत करती हैं। भारतीय कालगणना से स्पष्ट प्रतीत होता है कि १९७ करोड़ वर्ष पूर्व मानव जीवन की स्थिति थी तथा जब उन्होंने वैज्ञानिक विकास कर कालगणना प्रारम्भ की उस समय अश्विनी नक्षत्र संवत्सर का मुख था। अश्विनी नक्षत्र में ही वर्षारम्भ की स्थिति आज से ९५०० वर्ष पूर्व भी रही थी।

अतः सृष्टि के प्रारम्भिक काल एवं ९५०० वर्ष पूर्व की समान स्थिति से हमें भ्रान्त नहीं होना है। स्थिति के यथावत् आकलन एवं प्रस्तुतीकरण के लिए विभिन्न विषयों में विशारद विद्वानों को एकत्र बैठकर सहयोगानुसहयोग की भावना से कार्य करना होगा। आज से लगभग १५० वर्ष पूर्व विल्सन तथा मैक्समूलर जैसे प्रसिद्ध यूरोपीय संस्कृतविदों द्वारा निर्धारित वेद के काल की समालोचना करते हुए भारतीय नव जागरण के पुरोधा एवं प्रख्यातनामा महान् वैदिक विद्वान् महर्षि दयानन्द ने भी मन्वन्तर सिद्धान्त पर आधारित वेदाङ्गो,

धर्मशास्त्रों, पुराणों एवं ज्योतिष ग्रन्थों में प्रतिपादित इसी कल्पाब्द या सृष्ट्याब्द की ऋषिकृत कालगणना की और हमारा ध्यान आकृष्ट किया था जिसका संरक्षण एवं उल्लेख समस्त भारतवर्ष में नित्यप्रति की दिनचर्या में संकल्पों के माध्यम से होता रहा है। वस्तुतः ईश्वरीय सृष्टि में ग्रहों एवं नक्षत्रों की गति नियमित सिद्धान्तों पर आधारित है। अतः उनकी गति के आधार पर की गई कोई भी कालगणना बिल्कुल समीचीन रहती है।

यही कारण था कि प्राचीन भारतीय महर्षियों ने घटना विशेष के कालक्रम को प्रस्तुत करने के लिए वर्तमान काल की भाँति प्रचलित किसी कृत्रिम पद्धति-यथा ख्रिस्त पूर्व ५०० वर्ष अथवा १९९७ ईसवी सन् (ख्रिस्ताब्द) इत्यादि का आश्रय न लेकर ऋत की शाश्वत व्यवस्था पर आधारित नक्षत्रों के सापेक्ष चन्द्र, पृथिवी एवं सूर्य की विभिन्न स्थितियों को अपनी गणना का आधार बनाया जो कि सर्वाधिक प्रकृति नियम पर आधारित एवं विज्ञान सम्मत है।

भारतीय कालगणना का वैशिष्ट्य

भारतीय कालगणना का वैशिष्ट्य यह है कि यह विश्व की अन्य कालगणनाओं की भांति किसी व्यक्ति विशेष या घटना विशेष पर आधारित किसी देश विशेष की कालगणना नहीं है। अपितु नक्षत्रों की गणना पर आधारित यह कालगणना समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एवं पृथिवी पर सृष्टि चक्र के प्रारम्भ को इंगित करने वाली वैश्विक कालगणना है। इसे किसी व्यक्ति विशेष, घटना विशेष अथवा देश विशेष के आधार पर न जाना जाकर सृष्ट्याब्द या कल्पाब्द (वर्तमान कल्प का प्रारम्भ) के नाम से जाना जाता है।

२

भारतीय कालगणना की सूक्ष्मतम इकाई

भारतीय कालगणना की सूक्ष्मतम इकाई त्रुटि से प्रारम्भ होती है जो कि एक सैकेण्ड का भी ३३७५०वाँ भाग है तथा काल की महानतम इकाई महाकल्प पर समाप्त होती है जो कि वर्तमान ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण आयु अर्थात् ३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्ष है।

भास्कराचार्य ने त्रुटि को काल की सूक्ष्मतम इकाई माना है एक त्रुटि परिमाण कमल के पत्ते में सूई से छेद करने के समान माना जाता है। १०० त्रुटि का एक तत्पर होता है। ३० तत्पर एक निमेष के समकक्ष, ४५ निमेष का एक असु (प्राण) तथा एक असु ४ सैकेण्ड के बराबर होता है। दूसरी तरफ १८ निमेष की एक काष्ठा, ३० काष्ठा की एक कला तथा ३० कला की एक घटी होती है। २ घटी एक मुहूर्त के समकक्ष तथा ३० मुहूर्त का एक अहोरात्र (दिन रात) होता है। एक घटी को ६० पल के बराबर भी माना है तथा एक पल को ६० विपल के समकक्ष माना है। एक मुहूर्त को २ नाड़ी तथा एक नाड़ी को एक घटी के बराबर परिगणित किया गया है।

इन सूक्ष्मतम इकाइयों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक मनीषियों ने इन सूक्ष्मतम इकाइयों का आविष्कार केवल मनोविनोद हेतु नहीं किया परन्तु विज्ञान के किन्हीं तीव्रतम गति सीमा वाले पदार्थों के परिमाप हेतु किया गया।

३

दिनमान

उपर्युक्त सूक्ष्मतम इकाइयों के अतिरिक्त भारतीय कालगणना में उत्तरोत्तर बड़ी से बड़ी इकाइयों का समावेश हुआ है । काल के विभिन्न खण्डों का सीमांकन पृथिवी, चन्द्र, बृहस्पति एवं अन्य ग्रहों की विभिन्न प्रकार की गतियों के आधार पर किया गया, यथा—

सावन दिन

पृथिवी अपनी धुरी पर १६०० कि०मी० प्रति घण्टा की गति से घूमती है ऐसा करने में एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक लगभग २४ घण्टे का समय लगता है । १२ घण्टे पृथ्वी का पूर्वार्द्ध सूर्य के सामने तथा १२ घण्टे तक उतरार्द्ध सूर्य के सामने रहता है । जो भाग सूर्य के सामने होता है उसे अहः (दिन) एवं जो पीछे होता उसे रात्रि कहते हैं । इसी गति के कारण अहोरात्र निर्माण होता है । अहोरात्र को सावन दिन अथवा भूदिन कहा जाता है । कालान्तर में 'अ-होरा-त्र' शब्द से होरा शब्द का विकास हुआ । अंग्रेजी भाषा का 'hour' शब्द भी होरा का ही अपभ्रष्ट रूप है ।

सौर दिन

पृथिवी की दूसरी गति सूर्य के चारों ओर है यह लगभग एक लाख कि० मी० प्रति घण्टे की गति से सूर्य का परिक्रमण वर्तमान में लगभग ३६५.२५ अहोरात्र या सावन दिनों में करती है । यदि पृथिवी की कक्षा को ३६०° में विभक्त कर लिया जाये तो कह सकते हैं कि पृथिवी का अपनी कक्षा पर १° चलन एक सौर दिन कहलायेगा । स्पष्ट है कि एक सौर दिन एक सावन दिन से लगभग २१ मिनट (कला) बड़ा होता है ।

चान्द्र दिन

चान्द्र दिन को तिथि कहते हैं । पृथिवी का परिभ्रमण करते हुए चन्द्रमा का १२ अंश तक चलन एक तिथि अथवा चान्द्र दिन कहलाता है । अमावस्या के दिन चन्द्रमा पृथिवी तथा सूर्य के मध्य सूर्य से ठीक नीचे होता है उस स्थिति को ० अंश कहते हैं । क्योंकि उस समय चन्द्रमा सूर्य के निकटस्थ होता है ।तदनन्तर प्रति १२ अंश तक सूर्य से दूर चलन चन्द्रमा की एक तिथि या दिन कहलाता है । इस प्रकार

चन्द्रमा का सूर्य से १८० अंश के अन्तर पर होना पूर्णिमा अथवा पञ्चदश तिथि कहलाती है । पूर्णिमा के अनन्तर चन्द्रमा प्रति १२ अंश की दर से सूर्य के निकट आना शुरु होता है । इसे कृष्ण पक्ष की तिथियाँ कहते हैं । इस प्रकार से शुक्ल पक्ष की तिथि की संख्या को १२ से गुणा करने पर सूर्य और चन्द्र का अंशात्मक अन्तर मालूम होता है । कृष्ण पक्ष की तिथि संख्या में १५ जोड़ कर १२ से गुणा करना चाहिए । इस प्रकार पंद्रह तिथियों का एक पक्ष तथा तीस तिथियों का एक चान्द्रमास होता है । शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष को क्रमशः पितरों के दिन और रात कहा जाता है ।

नाक्षत्र दिन

पृथिवी अपनी धुरी पर पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती रहती है । इसलिये ग्रह नक्षत्र हमें प्रतिदिन पश्चिम की ओर जाते दिखाई देते हैं । पृथिवी का कोई निश्चित् स्थान् किसी निश्चित नक्षत्र के सामने से घूमता हुआ अगले दिन जब पुनः उसी नक्षत्र के सामने आ जाता है, तो नक्षत्रों का एक चक्कर पूरा हो जाने से एक नाक्षत्र दिन कहलाता है । इस प्रकार ३० नाक्षत्र दिनों का एक नाक्षत्र-मास कहलाता है ।

दिन अथवा वार का प्रारम्भ

सूर्य सिद्धान्त के अनुसार अर्ध-रात्रि से सृष्टि का आरम्भ हुआ । अतः दिन का प्रारम्भ भी अर्धरात्रि से माना जाता है वर्तमान में सारे संसार में अर्धरात्रि से ही दिन का प्रारम्भ मानते हैं । दूसरी तरफ विष्णुधर्मोत्तर पुराण, आर्यभट्ट प्रथम, ब्रह्म गुप्त तथा भास्कराचार्य आदि सूर्योदय से सृष्टि का आरम्भ मानते हैं ।

चैत्रे मासि जगद् ब्रह्मा ससर्ज प्रथमे अहनि,

शुक्लपक्षे समग्रं तत्तदा सूर्योदये सति (काल माधव)

अतः उनके मत से सूर्योदय से ही दिन का प्रारम्भ माना जाता है । ये दोनों ही मान्यताएँ आजकल प्रचलित हैं ।

४

सप्ताह मान

सात सावन दिनों का एक सप्ताह कहलाता है। सप्ताह के दिनों को वासर अथवा वार नाम दिया गया। वस्तुतः सौरमण्डल के तारों, ग्रहों एवं उपग्रहों में से केवल सात ही हमारी पृथिवी के वातावरण को प्रभावित करते हैं। जांच करने पर पता लगा कि सूर्य को केन्द्र मान कर उनकी परिधियाँ निम्न क्रम से हैं (सूर्य), बुद्ध, शुक्र, पृथिवी-चन्द्र, मंगल, बृहस्पति एवं शनि परन्तु यदि पृथिवी को केन्द्र मान लें तो सूर्य को पृथिवी से स्थानान्तरित करने पर इनका क्रम इस प्रकार से होगा। (पृथिवी)– चन्द्र, बुद्ध, शुक्र, सूर्य, मंगल, बृहस्पति एवं शनि। अर्थात् पहले चन्द्रमा की परिधि है पुनः बुद्ध, शुक्र, सूर्य, मंगल, बृहस्पति तथा अन्ततः शनि की।

इन सात परिधियों का यजुर्वेद के ऋषि ने इस प्रकार वर्णन किया है— **सप्तास्यासन परिधयः** (यजु. ३.१) अर्थात् इस पृथिवी पर सात लोकों की परिधियाँ हैं। इन सात लोकों को क्रमशः भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्यम् के नाम से जाना जाता है। वैदिक ऋषि नित्यप्रति की जाने वाली सन्ध्योपासना में इन सात लोकों का स्मरण नियमित रूप से करते थे, यथा **ओं भूः ! ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः। ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम्।** सूर्य सिद्धान्त भी इसी आधार पर सप्ताह के दिनों का नामकरण करता है।

सप्ताह के दिनों का नामकरण

सृष्टि का आरम्भ सूर्य के उदय के साथ होता हैं। अतः सप्ताह का पहला दिन भी सूर्य के नाम पर रविवार कहलाया। वस्तुतः दिन के २४ घण्टों में से प्रत्येक घण्टा प्रत्येक ग्रह का माना गया है तथा दिन का प्रथम घण्टा जिस ग्रह के घण्टे से प्रारम्भ हुआ, उसी ग्रह के आधार पर उसका नाम रखा गया।

उदाहरण के लिये सप्ताह के प्रथम दिन का पहला घण्टा सूर्य से आरम्भ हुआ, अतः पहले दिन का नामकरण भी सूर्य के आधार पर रविवार किया गया। इस प्रकार अगले २३ घण्टे बीत जाने पर पुनः दूसरे दिन का पहला घण्टा चन्द्र से आरम्भ हुआ, अतः दूसरे दिन का नाम सोमवार रखा गया। उपर्युक्त क्रम से हर एक दिन के २४ घण्टे पूरे होने पर अगले-अगले दिन का पहला घण्टा जिस-जिस

ग्रह से आरम्भ हुआ, उस-उस ग्रह के आधार पर सम्बन्धित दिन का नाम रखा गया। घण्टों के क्रम एवं सप्ताह के दिनों के नामकरण की यह प्रक्रिया निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है। सप्ताह के दिनों का नामकरण एवं क्रम केवल भारतवर्ष में गवेषित इसी सिद्धान्त के आधार पर समस्त विश्व में प्रचलित है।

चन्द्र	बुद्ध	शुक्र	सूर्य	मंगल	बृह०	शनि
४	३	२	रवि १	-	-	-
११	१०	९	८	७	६	५
१८	१७	१६	१५	१४	१३	१२
सोम १	२४	२३	२२	२१	२०	१९
८	७	६	५	४	३	२
१५	१४	१३	१२	११	१०	९
२२	२१	२०	१९	१८	१७	१६
५	४	३	२	मंगल १	२४	२३
१२	११	१०	९	८	७	६
१९	१८	१७	१६	१५	१४	१३
२	बुद्ध १	२४	२३	२२	२१	२०
९	८	७	६	५	४	३
१६	१५	१४	१३	१२	११	१०
२३	२२	२१	२०	१९	१८	१७
६	५	४	३	२	बृह० १	२४
१३	१२	११	१०	९	८	७
२०	१९	१८	१७	१६	१५	१४
३	२	शुक्र १	२४	२३	२२	२१
१०	९	८	७	६	५	४
१७	१६	१५	१४	१३	१२	११
२४	२३	२२	२१	२०	१९	१८
						शनि १

५

मास-मान

३६०° वाले पृथिवी के कक्षा चक्र को द्वादश भागों में विभक्त किया गया है।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं (ऋ. १.१६४.४८)

अर्थात् वर्ष १२ अरों वाला एक चक्र है।

द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिधामृतस्य। (ऋ. १.१६४.११)

'अर्थात् १२ अरों वाला समयचक्र द्युलोकस्थ ऋत् अर्थात् सूर्य का चक्र लगाता है तथा जीर्णता को प्राप्त नहीं होता।'

प्रस्तुत मन्त्र में १२ अरे १२ मासों के द्योतक हैं।

इस प्रकार ३०° का एक भाग हुआ, जिसकी मास संज्ञा हुई। यह मास ३० भूदिनों का अथवा प्रति २१ कला की अधिकता वाले ३० सौर दिनों का बनता है।

परन्तु यहाँ पर यह अवधेय है कि मास के निर्माण में पृथिवी की अपनी धुरीगत अथवा कक्षागत गति कारण नही है अपितु चन्द्रमा का पृथिवी के चारों ओर परिक्रमण मास के कालमान की उत्पत्ति का प्रमुख हेतु रहा है। ऋग्वैदिक ऋषि का कथन प्रस्तुत सन्दर्भ में ध्यातव्य है—

अरुणो मासकृद् वृकः (ऋ. १.१०५.१८)

उक्त मन्त्र पर यास्क (निरु. ५.२१) का व्याख्यान द्रष्टव्य है

अरुणः आरोचनो मासकृन्मासानां चार्द्धमासानां च कर्ता भवति चन्द्रमाः वृकः।

अर्थात् चन्द्रमा ही मास और अर्धमासों का बनाने वाला है। वस्तुतः चन्द्रमस् के मस् से ही मास की उत्पत्ति हुई है। मास का अर्थ है 'मापना' **मासा मानात्**(निरु. ४.२७)

चन्द्रमस् क्योंकि आकाश में नक्षत्रों का मापता चलता है अतः चन्द्रमा के साथ मापने का भाव जुड़ा है। सम्भवतः ग्रीक लोगों ने भी मापने के भाव

(Measuring action) को देखते हुए चन्द्रमस् से उत्पन्न Moon शब्द को स्वीकृत कर लिया।

यहाँ पर यह जानना आवश्यक है कि चन्द्रमा का एक मास ३० चन्द्र तिथियों का होता है जो कि २९ दिन एवं १२ घण्टे के सौर मास के बराबर होता है। अतः चन्द्रमास की सीमा लगभग २९$\frac{१}{२}$ दिन ठहरती है। दूसरी तरफ वर्तमान सौर मास लगभग ३० दिन १० मिनट एवं ३० सैकेंड का होता है इस प्रकार एक सौर मास के साथ-साथ चान्द्रमास के १२ घण्टे १० मिनट एवं तीन सैकेंड अधिक बीत जाते है। लगभग ३२$\frac{१}{२}$ सौर मास के बाद एक चान्द्र मास अधिक हो जाता है इसे ही बढ़ा हुआ भाग होने के कारण अधिक मास या मलमास कहा गया। वैदिक ऋषि सौरमासों के सापेक्ष बढने वाले चान्द्र मासों को जानते थे। अतएव उन्होंने कहा— **वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उपजायते**। अर्थात् प्राकृतिक व्रत (नियमो) को धारण करने वाला अर्थात् जानने वाला १२ मासों को जानता है तथा तदपेक्षया बढने वाले चान्द्रमास को भी जानता है।

मासों के नामकरण का सिद्धान्त

जैसा कि पहले भी निर्दिष्ट किया गया है। चन्द्रमा का पृथिवी के गिर्द भ्रमण ही पक्ष ओर मासों का जनक है। इसी प्रकार मासों का नामकरण भी उस राशि के नक्षत्र के आधार पर किया जाता है पूर्णिमा के अन्त में चन्द्रमा जिस राशि के नक्षत्र योग में होता है। उदाहरण के रूप में पूर्णिमान्त चन्द्रमा जब चित्रा नक्षत्र के योग में होता है तो उस मास का नाम चैत्रमास होता है। वस्तुतः पूर्णिमा से मास का अन्त होता है इसीलिये इसे पूर्णमासी कहा जाता है। पूर्णमासी के समय चन्द्रमा जिस नक्षत्र में होता है सूर्य उसके बिल्कुल १८०° विपरीत नक्षत्र या राशि में होता है। अतः जब सूर्य मेष की संक्रान्ति में अश्विनी नक्षत्र में होता है तो चन्द्रमा चित्रा नक्षत्र में होता है। अतः मेष की संक्रान्ति वाले मास का नाम चैत्र कहलाता है।

६

उत्तरायण-दक्षिणायन

पृथिवी अपनी कक्षा पर $२३\frac{१}{२}$ अंश उत्तर-पश्चिम में झुकी हुई है। अतः सूर्य का चक्र लगाते-लगाते इसका भूमध्य रेखा से $२३\frac{१}{२}$ अंश उत्तर से $२३\frac{१}{२}$ अंश दक्षिण तक का भाग सूर्य के सामने आता है। कहने का तात्पर्य यह है कि $२३\frac{१}{२}$ अंश उत्तर-दक्षिण तक ही सूर्य की किरणें पृथिवी पर लम्बवत् पड़ती हैं। $२३\frac{१}{२}$ अंश उत्तर में जब सूर्य लम्बवत् होता था तो कर्क राशि होती थी अतः $२३\frac{१}{२}$ अंश उत्तर को कर्क रेखा कहा गया तथा कर्क रेखा पर सूर्य के लम्बवत् आने को कर्क संक्रान्ति कहा गया। इसीप्रकार जब सूर्य की किरणे $२३\frac{१}{२}$ अंश दक्षिण में सीधी पड़ती थी तो मकर राशि होती थी। यही कारण है $२३\frac{१}{२}$ अंश दक्षिण को मकर रेखा कहा गया तथा मकर रेखा पर सूर्य के लम्बवत् स्थिति में आने को मकर संक्रान्ति कहा गया। भूमध्य रेखा को ०° अथवा विषुववृत अथवा विषुवत् रेखा भी कहते हैं। जब भूमध्य रेखा वाला भाग सूर्य के बिल्कुल सामने होता था। उस समय सूर्य क्रमशः मेष तथा तुला राशि में होता था। ०° भूमध्य रेखा को ही मेरु कहा जाता है। मेष एवं तुला राशि में भूमध्य रेखा पर सूर्य के लम्बवत् होने को क्रमशः वसन्त सम्पात एवं शरद सम्पात् कहते थे। क्योंकि उस समय क्रमशः वसन्त एवं शरद का मौसम बनता था। तथा सूर्य की किरणों का समकोण (९०°) पर पात (गिरना) होता था। दूसरी तरफ कर्क संक्रान्ति को उत्तरायण एवं मकर संक्रान्ति को दक्षिणायन कहते थे। मकर संक्रान्ति के दिन पृथिवी का $२३\frac{१}{२}$ अंश दक्षिणी गोलार्द्ध (कुमेरु) सूर्य के सामने होता है। उसके बाद पृथिवी का उत्तर की ओर झुकना शुरु होता था इस उत्तर की ओर झुकाव को ही उत्तरायण कहते थे। आजकल सूर्य की $२३\frac{१}{२}$ अंश क्रान्ति २२ दिसम्बर को होती है अतः २२ दिसम्बर के दिन दक्षिणी गोलार्द्ध (कुमेरु) पर दिन सबसे बड़ा एवं रात सबसे छोटी होती है। याद रहे सम्पात् बिन्दु के पीछे खिसक जाने के कारण आजकल यह समय मकर संक्रान्ति न होकर धनु की संक्रान्ति वाला बन गया है। इस क्रम में जनवरी में मकर राशि के अन्त में पृथिवी का २०° दक्षिणी गोलार्द्ध सूर्य के सामने आ जाता था। आजकल ऐसा २१ जनवरी को धनु राशि के अन्त में होता है। तदनन्तर कुम्भ राशि के अन्त में १२° दक्षिणी गोलार्द्ध सूर्य के सामने होता था। आजकल यह फरवरी में मकर के अन्त में होता है। तत्पश्चात् मीन राशि के अन्त में पृथिवी का ०° अर्थात् भूमध्य रेखा सूर्य के

सामने होती थी । भूमध्य रेखा आजकल कुम्भ राशि के अन्त में सूर्य के सामने आती है ।

यहाँ पर यह उल्लेख करना भी अनिवार्य होगा कि आजकल कि २२ दिसम्बर से २० मार्च तक के तीन महिनों के अन्तराल में दक्षिणी गोलार्द्ध (कुमेरु) पर दिन बड़े एवं रातें छोटी होती हैं । दूसरी तरफ सुमेरु (उत्तरी गोलार्द्ध) पर रातें बड़ी दिन छोटे होते हैं । आजकल २१ मार्च को कुम्भान्त में भूमध्य रेखा पर सूर्य लम्बवत् होता है अतः सुमेरु एवं कुमेरु दोनों पर दिन रात बराबर होते हैं । तदनन्तर अप्रैल में मीन के अन्त में १२ अंश उत्तरी गोलार्द्ध (सुमेरु) सूर्य के सामने आता है । मई में मेष के अन्त में २० अंश सुमेरु सूर्य के सामने आता है । जून में वृष के अन्त में २३$\frac{१}{२}$ अंश सुमेरु सूर्य के समक्ष होता है । सृष्टि के प्रारम्भ जब सम्पात् विन्दु अश्विनी नक्षत्र में था, तब मिथुन के अन्त में सूर्य की २३$\frac{१}{२}$ अंश सुमेरु पर क्रान्ति होती थी ।

इस दिन सुमेरु पर सबसे बड़ा दिन एवं रात सबसे छोटी होती है । दूसरी तरफ कुमेरु पर दिन सबसे छोटा एवं रात सबसे बड़ी होती है । २१ जून को उत्तर की ओर पृथिवी का अधिकतम झुकाव होता है । उत्तर की ओर झुकाव की इस समाप्ति के साथ ही उत्तरायण की समाप्ति होती है । तदनन्तर २२ जून से दक्षिण की ओर झुकाव का प्रारम्भ होता है इसे दक्षिणायन (दक्षिण की ओर गति) कहते हैं । प्रस्तुत क्रम में जुलाई में मिथुन राशि के अन्त में २०° सुमेरु सूर्य के सामने आ जाता है, अगस्त में कर्क के अन्त में १२° सुमेरु सूर्य के समक्ष होता है । सृष्टि के प्रारम्भिक काल में ऐसा सिंह के अन्त में होता था। इसे ही सूर्य की कन्या संक्रान्ति कहते थे ।

यहाँ पर यह बताना भी अनावश्यक न होगा कि कन्यागत सूर्य के समय ही श्राद्ध मनाने का रिवाज है । इस श्राद्ध पक्ष को 'कनागत' भी कहा जाता है जो कि कन्यागत सूर्य का ही अपभ्रष्ट रूप है । तत्पश्चात् कन्या के अन्त में सूर्य पुनः मेरु अर्थात् ०° अंश भूमध्य रेखा पर होता था । आजकल यह स्थिति २३ सितम्बर को सिंह राशि के अन्त में आती है । यहाँ पर यह याद रखना होगा कि २२ मार्च से २२ सितम्बर तक छः महिनों के अन्तराल में सुमेरु पर दिन बड़े एवं रातें छोटी होती हैं । क्योंकि इन दिनों में सुमेरु (उत्तरी गोलार्द्ध) का ही कोई न कोई भाग सूर्य के समक्ष रहता है । इस समय उत्तरी ध्रुव (सुमेरु) पर भी छः महिने का दिन रहता है । जिसे देवों का एक दिन कहा जाता है । दूसरी तरफ दक्षिण गोलार्द्ध (कुमेरु)

का कोई भी भाग सूर्य के सामने नहीं आता, अतः कुमेरु में दिन छोटे एवं रातें बड़ी होती हैं तथा कुमेरु (दक्षिणी ध्रुव) पर छः महिने की रात रहती है । जिसे असुरों की रात कहते हैं । इस प्रकार २२ मार्च से २३ सितम्बर के छः महिने तक सुमेरु (उत्तरी गोलार्द्ध) का सूर्य की ओर झुकाव समाप्त हो जाता है परन्तु पृथिवी के दक्षिण की ओर झुकाव की गति जारी रहती है । २४ सितम्बर को दक्षिणी गोल (कुमेरु) सूर्य के सामने आना शुरु हो जाता है ।

अतः कुमेरु में दिन बड़े रातें छोटी होनी प्रारम्भ हो जाती हैं । तथा दक्षिणी ध्रुव पर दिन का प्रारम्भ तथा उत्तरी ध्रुव पर रात का प्रारम्भ हो जाता है । कुछ विद्वान् उत्तरी गोल (सुमेरु) के २२ मार्च से २३ सितम्बर के छः महिने तक सूर्य के समक्ष रहने के काल को ही उत्तरायण कहते हैं । दूसरी तरफ अन्य विद्वान् उत्तर की ओर पृथिवी के झुकने को उत्तरायण मानते हैं जो कि २३ दिसम्बर से २१ जून तक जारी रहता है । पुरावैदिक काल में पूर्व मत को मान्यता प्राप्त थी परन्तु कालान्तर में दूसरे मत को मान्यता मिली ।

इस मतभेद के पीछे वैज्ञानिक कारण था जिसे आगे स्पष्ट किया जायेगा । सृष्ट्यारम्भ में १२° कुमेरु तुलान्त अर्थात् वृश्चिक की संक्रान्ति में सूर्य के समक्ष आ जाता था । आजकल अक्तुबर में कन्यान्त अर्थात् तुला की संक्रान्ति में सूर्य की १२ अंश कुमेरु पर क्रान्ति होती है । वृश्चिक के अन्त में अर्थात् धनु की संक्रान्ति में २०° कुमेरु सूर्य के समक्ष आ जाता था । आजकल नवम्बर में तुला के अन्त अर्थात् वृश्चिक की संक्रान्ति में सूर्य की २०° कुमेरु पर क्रान्ति होती है तथा २२ दिसम्बर को २३$\frac{१}{२}$° कुमेरु धनु की संक्रान्ति में वृश्चिकान्त सूर्य के समक्ष आता है । जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है सृष्ट्यारम्भ में मकर की संक्रान्ति में धनु के अन्त में यह स्थिति आती थी । इस प्रकार से पृथिवी-गोल का दक्षिण की ओर झुकना समाप्त हो जाता है । यह दक्षिण की ओर सूर्य के सामने झुकना २२ जून को प्रारम्भ होता है तथा २२ दिसम्बर तक चलता है इसे ही कुछ विद्वान दक्षिणायन कहते हैं । तत्पश्चात् २३ दिसम्बर से उत्तर की ओर झुकना प्रारम्भ होता है ।

परन्तु यह याद रखना आवश्यक है कि पृथिवी का दक्षिणी गोल २३ सितम्बर से २१ मार्च तक सूर्य के समक्ष रहता है । अन्य विद्वान्, जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, २३ सितम्बर से २१ मार्च तक दक्षिण गोल (कुमेरु) के सूर्य के समक्ष रहने के काल को ही दक्षिणायन मानते हैं ।

उत्तरायण एवं दक्षिणायन-काल विषयक मान्यता भेद का कारण

उपर्युक्त विश्लेषण के अनन्तर यहाँ पर यह बताना आवश्यक होगा कि उत्तरायण एवं दक्षिणायन के काल के विषय में मतभेद क्यों है। वैदिक काल एवं वेदोत्तर काल में यह मतभेद क्यों उपस्थित हुआ? क्या यह भेद सम्प्रदाय भेद के कारण है अथवा किसी अन्य कारण से। उत्तर है इस मतभेद का कारण सम्प्रदाय भेद नहीं है, अपितु भौगिलिक एवं वैज्ञानिक है। उत्तरायण के पीछे सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण अभिप्राय यह था कि सूर्य का अधिकतम समय के लिये प्रकाशित होना तथा दक्षिणायन से तात्पर्य था सूर्य की न्यूनतम उपस्थिति। सूर्य की न्यूनतम अथवा अधिकतम उपस्थिति भौगोलिक स्थान के सापेक्ष रहती है। उदाहरणतया भूमध्यरेखीय एवं उसके गिर्द वाले स्थानों पर सूर्य की उपस्थिति एक जैसी ही रहती है।

परन्तु ज्यों-ज्यों हम भूमध्य रेखा से दूर होते-जाते हैं। सूर्य की उपस्थिति में भेद आने लगता है। इस भेद की प्रतीति ध्रुवीय स्थानों के निकटवर्ती प्रदेशों में ज्यादा होती है। उदाहरण के रूप में वर्तमान समय में उत्तरी ध्रुवीय प्रदेशों को सूर्य का अधिकतम प्रकाश २१ मार्च से २३ सितम्बर के अन्तराल में मिल सकता है जब उत्तरी गोलार्द्ध सूर्य के सामने रहता है। उसी प्रकार दक्षिणी ध्रुवीय प्रदेशों को सूर्य का अधिकतम प्रकाश २३ सितम्बर से २१ मार्च के छः महिनों के मध्य मिल सकता है जब पृथिवी का दक्षिणी गोलार्द्ध सूर्य के समक्ष होता है। इस प्रकार उत्तर एवं दक्षिण ध्रुवीय प्रदेशों की दृष्टि से उत्तरायण एवं दक्षिणायण क्रमशः उत्तरी गोलार्द्ध एवँ दक्षिणी गोलार्द्ध के अधिकतम भाग के सूर्य के समक्ष होने पर ही कहलाएंगे।

परन्तु दूसरी तरफ भूमध्य रेखीय प्रदेशों के लिये उत्तरायण एवं दक्षिणायण उत्तरी गोलार्द्ध एवं दक्षिणी गोलार्द्ध के सूर्य के समक्ष होने से सिद्ध नहीं होंगे अपितु पृथिवी के क्रमशः उत्तर एवं दक्षिण की ओर सूर्य के समक्ष झुकना आरम्भ करने से सिद्ध होंगे। पृथिवी उत्तर की ओर २३ दिसम्बर से झुकना आरम्भ करती है एवं २१ जून तक झुकती चली जाती है। अतः भूमध्य रेखीय लोगों के लिये २३ दिसम्बर से २१ जून का छः महिने का समय ही उत्तरायण होगा। इसके विपरीत पृथिवी २२ जून को दक्षिण की ओर सूर्य के समक्ष झुकना प्रारम्भ करती है तथा २१ दिसम्बर तक झुकती चली जाती है। अतः यह काल उनके लिए दक्षिणायन कहलायेगा।

इस तथ्य को समझ लेने के बाद अब इस शंका का समाधान आसानी से किया जा सकता है कि पुराकाल में वैदिक लोगों की मान्यता के अनुसार उत्तरी गोलार्द्ध के सूर्य के समक्ष रहने से उत्तरायण एवं दक्षिणी गोलार्द्ध के सूर्य के समक्ष रहने से दक्षिणायन क्यों कहलाता था, तथा कालान्तर में उक्त मान्यता के स्थान पर पृथिवी के उत्तर की ओर झुकने से उत्तरायण एवं दक्षिण की ओर झुकने से दक्षिणायन क्यों माना जाने लगा ?

इसके सम्यक् समाधान के लिये हमें पुरा वैदिक युग एवं उत्तर वैदिक युग के सन्दर्भ में काल एवं स्थान का ज्ञान होना आवश्यक है । जैसा कि प्रस्तुत लेखक अपने अनेक भाषणों, लेखों एवं पुस्तकों में प्रतिपादित कर चुका है कि वैदिक युग कोई १०-१५ हजार वर्ष से प्रारम्भ नहीं होता, अपितु पृथिवी पर वैदिक लोगों की उपस्थिति १९७ करोड़ वर्षों से है जिसमें पिछले १२ करोड़ वर्षों की तो अखण्ड वैदिक परम्परा ज्ञात भी है । इन करोड़ों वर्षों के अन्तराल में पृथिवी की ध्रुवता एवं भूखण्डीय विस्थापन (continental drift) ने अनेक स्वरूप धारण किये हैं । आधुनिक भौगर्भिक अनुसंधानों से भी ज्ञात होता है कि ३५ करोड़ वर्ष पहले तक (अर्थात् कर्बोनीफेरस युग तक) भारतीय भूखण्ड ६०° दक्षिण गोलार्द्ध में दक्षिणीध्रुव, आष्ट्रेलिया एवं अफ्रीका भूखण्ड से सटा हुआ था । तत्पश्चात् ७ करोड़ वर्ष पहले तक जब हिमालय की रचना प्रारम्भ हुई यह भूखण्ड ३०° दक्षिण गोलार्द्ध पर था तथा अफ्रीका एवं आष्ट्रेलिया के अत्यन्त निकट था । १० लाख वर्ष पहले ही हम भूमध्य रेखा से आकर सटे थे, तथा वर्तमान में तो हम ८° उत्तर में हैं ।

इस प्रकार उत्तरायण एवं दक्षिणायन विषयक मान्यता भेद की कहानी भौगोलिक स्थानभेद में छिपी है । ७ करोड़ वर्ष पूर्व तक भी हम भूमध्य रेखा से दक्षिण की ओर थे । अतः आवश्यक था कि हमारे पुराकालिक पूर्वज उत्तरायण एवं दक्षिणायण की पूर्व मान्यता को जन्म देते । कालान्तर में १० लाख वर्षों के आस-पास जब हम भूमध्य रेखीय प्रदेश के वासी बने तो हमारे पूर्वजों को उत्तरायण एवं दक्षिणायन विषयक पूर्व मान्यता को बदलना पड़ा एवं उत्तर एवं दक्षिण की ओर पृथिवी के झुकने पर आधारित नूतन मान्यता को जन्म देना पड़ा ।

उक्त विस्तृत विश्लेषण से हस्तामलकवत् ज्ञात हो जाता है कि उत्तरायण एवं दक्षिणायन की मान्यता को जन्म कहाँ, कब और कैसे मिला तथा समयानुसार इन मान्यताओं में परिवर्तन कैसे आया ?

दैव एवं आसुर दिन-रात

जैसा कि पूर्वत्र भी स्पष्ट किया जा चुका है कि देव और असुर संज्ञाएँ दिशावाची हैं न कि व्यक्ति अथवा जातिवाची। उत्तर एवं पूर्व दिशा दैवी दिशाएँ कहलाती हैं, तथा इसके विपरीत, दक्षिण एवं पश्चिम दिशा आसुरी दिशाएँ कहलाती हैं। उक्त सन्दर्भ में यह बताना अवश्यक होगा कि २१ मार्च से २३ सितम्बर तक उत्तरी गोलार्द्ध के सूर्य के सामने होने से उत्तरी ध्रुव पर छः महिने तक प्रकाश रहता है, इसे दैव दिन कहते हैं, दूसरी तरफ दक्षिणी ध्रुव पर छः महिने तक रात रहती है इसे असुरों की रात कहते हैं। इस के विपरीत २३ सितम्बर से २१ मार्च तक दक्षिणी गोलार्द्ध सूर्य के सामने होता है अतः दक्षिणी ध्रुव पर छः महिने तक दिन रहता है। इसे असुरों का एक दिन बोलते हैं, दूसरी तरफ उत्तरी ध्रुव अन्धकार में रहता है जिसे देवों की रात बोलते हैं। इसी मान्यता को लेकर भारतीय, जो कि उत्तरी गोलार्द्ध में हैं, देवों की रात को देवों का सोने का समय मानते हैं एवं कोई विशेष अनुष्ठान इन दिनों में नहीं करना चाहते। तदनन्तर देवों के दिन में देव उठते हैं ऐसा माना जाता है। देवोत्थान एकादशी इसकी साक्षी है। देवों के उठने के बाद ही अर्थात् देवोत्थान एकादशी के अनन्तर ही विवाहादि विशेष अनुष्ठानों का आयोजन किया जाता है।

संक्रान्ति परिवर्तन एवं कर्क तथा मकर रेखा का निरन्तर क्रमशः उत्तर एवं दक्षिण की ओर विसर्पण

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है अयनगति के फलस्वरूप सम्पात् बिन्दु ७२ वर्ष में १° अंश पीछे खिसकता रहता है। सृष्टि के आरम्भ में सम्पात् बिन्दु अश्विनी नक्षत्र के आरम्भ में था। तदनन्तर यह निरन्तर पीछे की ओर खिसक रहा है। २५९२० वर्ष में सम्पात् बिन्दु पुनः अश्विनी नक्षत्र में आता रहता है। वर्तमान समय में अयनगति के कारण सम्पात बिन्दु अश्विनी नक्षत्र से २३$\frac{१}{२}$ अंश पीछे आ चुका है। अतः वसन्त सम्पात् आजकल अश्विनी नक्षत्र में न होकर पूर्वभाद्रपद में होता है। इसीप्रकार दक्षिणायन पुनवर्सु में न होकर मृगशिरा में होता है, शिशिर सम्पात् चित्रा में न होकर उ० फाल्गुनी में तथा उतरायण उत्तराषाढा की अपेक्षा मूल में होता है। यही कारण है सम्पात् बिन्दु अथवा अयनगति के अश्विनी नक्षत्र में होने के कारण जो उत्तरापण एवं दक्षिणायन क्रमशः सूर्य की मकर एवं कर्क की संक्रान्ति में होते थे, आज धनु एवं मिथुन की संक्रान्ति में होते

है। अश्विनी नक्षत्र को स्थिर गणना का आधार मानने से मकर के अन्त में सूर्य की २३$\frac{१}{२}$ अंश कुमेरु (दक्षिण) क्रान्ति तथा कर्क के अन्त में २३$\frac{१}{२}$ अंश सुमेरु (उत्तर) क्रान्ति मानी जायेगी। अतः मकर संक्रान्ति को २३$\frac{१}{२}$ अंश दक्षिण एवं कर्क संक्रान्ति को २३$\frac{१}{२}$ अंश उत्तर का प्रतिनिधि माना गया। आजकल अयनगति के कारण यह मकर संक्रान्ति (२३$\frac{१}{२}$ अंश दक्षिण में सूर्य की क्रान्ति) धनु राशि के अन्त में तथा कर्क संक्रान्ति (२३$\frac{१}{२}$ अंश उत्तर में सूर्य की क्रान्ति) मिथुन राशि के अन्त में होती है। परन्तु स्थिर गणना में धनु राशि २० अंश दक्षिण एवं मिथुनराशि २० अंश उत्तर का प्रतीक है। अतः स्थिरगणना के हिसाब से धनु एवं मिथुन राशियों द्वारा क्रमशः मकर एवं कर्क का स्थान लेने के कारण, मकर एवं कर्क रेखाएँ क्रमशः ३$\frac{१}{२}$ अंश दक्षिण एवं उत्तर में बढ़ जायेगी। ३$\frac{१}{२}$ अंश उत्तर एवं दक्षिण की ओर विसर्पण में लगभग २१६० वर्ष का समय लगता है। उज्जैन में एक कर्कराज का मन्दिर है जो किसी समय स्थिर गणना की कर्क रेखा के वहाँ से गुजरने का प्रतीक था। आजकल कर्क रेखा उक्त मन्दिर से लगभग ४० कि० मी० उत्तर की ओर जा चुकी है। ४० की० मी० उत्तर की ओर विसर्पण के आधार पर कर्कराज के मन्दिर का काल निर्धारित किया जा सकता है। यथा ३$\frac{१}{२}$ अंश उत्तर की ओर विसर्पण को २१६० वर्ष का समय लगता है। १° अक्षांश ११० कि० मी० के बराबर होता है। इस हिसाब से ३$\frac{१}{२}$ अंश अक्षांश ११० x $\frac{७}{२}$ = ३८५ कि० मी० के बराबर होगा। ३८५ कि० मी० विसर्पण में २१६० वर्ष लगते हैं तो ४० कि० मी० विसर्पण में लगभग ($\frac{२१६०}{३८५}$ x ४० =) २५० वर्ष का समय लगेगा। स्पष्ट है कि उज्जैन का वर्तमान कर्कराज का मन्दिर न्यूनानिन्यून २५० वर्ष प्राचीन है।

७

वर्षमान

पृथिवी सूर्य के गिर्द लगभग एक लाख कि०मी० प्रति घण्टे की गति से ९६,६०,००,००० कि० मी० लम्बे परिक्रमा पथ पर ३६५$\frac{१}{४}$ दिन में एक चक्र लगाती है। उक्त कालावधि को एक वर्ष की संज्ञा दी गई है। जैसा कि पूर्वत्र स्पष्ट किया जा चुका है पृथिवी के परिभ्रमण का यह काल निश्चित नहीं है। प्रत्युत पृथिवी की उत्पत्ति से लेकर यह निरन्तर बढ़ रहा है। इसका कारण है कि पृथिवी की सूर्य से दूरी बढ़ती जा रही है। पृथिवी सूर्य से १०,००० वर्ष में लगभग १५९ मीटर या एक वर्ष में १.५ सैं० मी० दूर चली जाती है। इस प्रकार इसका परिक्रमण पथ १०,००० वर्ष में लगभग एक कि० मी० बढ़ जाता है। इस प्रकार १.६ करोड़ वर्ष में पृथिवी के परिक्रमण का एक घण्टा बढ़ जाता है। १९७ करोड़ वर्ष पहले पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमने में ३६० दिन लगाती थी। यही कारण है कि उस समय वैदिक ऋषियों ने एक वृत्त को ३६०° में विभाजित किया तथा एक वर्ष में ३६० दिन अथवा ७२० दिन-रात होने का वर्णन किया। वस्तुतः कल्पारम्भ में वर्ष के ३६० दिनों की महत्ता को बनाए रखने के लिये अब भी पांचाग अथवा कैलेण्डर में ३६० दिन का एक वर्ष माना जाता है।

वर्ष का आरम्भ काल

वर्षारम्भ काल विषयक धारणा उत्तरायण से जुड़ी है। जब उत्तरायण का आरम्भ होता था तभी से वैदिक लोक वर्षारम्भ मानते थे। जैसा कि पहले भी उत्तरायण-दक्षिणायन काल विषयक मान्यता भेद के कारणों में स्पष्ट किया जा चुका है कि उत्तरायण एवं दक्षिणायन के काल की मान्यता कालानुसार भारत खण्ड की भौगिलिक स्थिति के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होती रही है। १९७ करोड़ वर्ष पहले हम दक्षिणी ध्रुव के साथ संयुक्त थे तथा पृथ्वी की ध्रुवता भी दक्षिण में थी। अतः हम वसन्त सम्पात् (वर्तमान २१ मार्च) से, जब पृथिवी का उत्तरी गोलार्द्ध सूर्य की ओर आना शुरु होता था, उत्तरायण का प्रारम्भ मानते थे। यही कारण है कि वर्तमान समय में भी उसी सृष्टि आरम्भ की मान्यता को बनाए रखने के लिये हम वसन्त ऋतु एवं वसन्त सम्पात् से ही वर्षारम्भ मानते हैं। जबकि उत्तरायण के काल विषयक मान्यता बदल चुकी है। इसका कारण है कि

वर्तमान समय में भारतीय महाद्वीप का विस्थापन भूमध्य रेखा से ८° उत्तर की ओर हो चुका है। फलतः पृथिवी के उत्तर की ओर झुकना प्रारम्भ करने के काल अर्थात् मकरसंक्रान्ति (२२ दिसम्बर) से उत्तरायण का प्रारम्भ मानते हैं, जैसा कि वेदाङ्ग ज्योतिष से भी स्पष्ट ज्ञात होता है।

इस दृष्टि से उत्तरायण के प्रारम्भ को यदि वर्षारम्भ मानें तो वर्तमान समय में वर्षारम्भ वसन्त सम्पात् से न मानकर उत्तरायण से ही मानना होगा। परन्तु १९७ करोड़ वर्ष पहले कल्पारम्भ अश्विनी नक्षत्र मेष राशि तथा चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को हुआ था। अतः उक्त स्थिति को महत्त्व देते हुए सम्प्रति यावत् भी वर्षारम्भ अश्विनी नक्षत्र, मेष राशि एवं चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से ही माना जाता रहा है। इस प्रकार नक्षत्रों की गणना में अश्विनी नक्षत्र को पहला नक्षत्र, मेष राशि को पहली राशि तथा चैत्र मास को प्रथम मास माना जाता है। तथा चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को वर्ष प्रतिपदा माना जाता है। यहाँ पर यह भी अवधेय है कि सृष्टि के प्रारम्भ में पृथिवी की कक्षा एवं विषुवन्मण्डल का सम्पात् भी अश्विनी नक्षत्र के आरम्भ में था। यह सम्पात् वसन्त ऋतु का जनक है। अतः इसे वसन्त सम्पात् भी कहते हैं। यही कारण है वसन्त ऋतु भी ऋतुओं में प्रथम एवं वर्षारम्भ की ऋतु मानी जाती है।

यथा शतपथ (२.१.३.१.३)— **वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा**

वाजसनेयि संहिता (३.१.१)— **वसन्तोऽस्यासीदाज्यं०**

तैत्तिरीय संहिता (१.४.१४.१)—**मधुमाधवश्च शुक्रश्च०**

यहाँ मधुमास वसन्त ऋतु का मास ही है परन्तु विशेष बात तो यह है कि जहाँ नक्षत्रों की स्थिति में परिवर्तन न होने के कारण राशि एवं मासों की स्थिति स्थिर रहती है, वहीं पृथिवी का ध्रुव वृत्त कदम्बवृत्त के गिर्द पश्चिमाभिमुख एक वर्ष में ५०.२ विकला के हिसाब से परिक्रमण करता रहता है। जिससे सम्पात् बिन्दु प्रति वर्ष नक्षत्रों के सापेक्ष ५०.२ विकला पीछे सरकता रहता है। इस प्रकार ७२ वर्ष में सम्पात् बिन्दु १ अंश अर्थात् एक दिन पीछे सरक जाता है।

स्पष्ट है कि सम्पात् बिन्दु की स्थिति नक्षत्रों के सापेक्ष स्थिर नहीं है। अतः सृष्टि के प्रारम्भ की स्थिति के महत्त्व को बनाए रखने के लिये नक्षत्र, तथा राशियों को तो स्थिर बनाएँ रखना सम्भव है परन्तु सम्पात् बिन्दु को नक्षत्रों के सापेक्ष स्थिर बनाए रखना सम्भव नहीं है। या यह कह सकते हैं सृष्ट्यारम्भ (कल्पारम्भ) के समय के ऋतु चक्र को नक्षत्र एवं राशियों के सापेक्ष स्थिर रखना मुश्किल है क्योंकि ऋतु चक्र सम्पात् बिन्दुओं से संचालित होता है। सृष्टि के आरम्भ में

मेष-वृष में वसन्त ऋतु होती थी परन्तु कालान्तर में यह पीछे की ओर निरन्तर हटती रही तथा २५९२० में पीछे हटने का चक्र पूरा कर पुनः मेष-वृष में आती रही । इस क्रम में आज मीन-मेष में वसन्त होती है ।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि अश्विनी नक्षत्र, मेष राशि तथा चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से तो वर्षारम्भ माना जा सकता है । परन्तु आवश्यक नहीं कि उस समय वसन्त ऋतु हो । कहने का तात्पर्य यह है नक्षत्रों एवं सम्पात् बिन्दु का समीकरण नहीं बन पाता ।

अतः कल्पारम्भ की स्थिति को ध्यान में रखते हुए वर्षारम्भ विषयक दो मान्यताएँ स्थिर हुई । प्रथम मान्यता के अनुसार चैत्र शुक्ल प्रतिपदा अर्थात् अश्विनी नक्षत्र, मेष राशि के प्रारम्भ से वर्षारम्भ होता है । यह स्थिर गणना है । दूसरी मान्यता के अनुसार सम्पात् बिन्दु से वर्षारम्भ माना गया । सम्पात् बिन्दु, जैसा कि पहले भी बता चुके हैं, निरन्तर पीछे की ओर खिसकता रहता है तथा ७२ वर्ष में एक अंश पीछे खिसक जाता है । अतः सम्पात् बिन्दु के आधार पर वर्षारम्भ मानने से वर्षारम्भ का काल भी ७२ वर्ष में एक दिन घटता रहेगा है । यह चलगणना कहलाती । सम्पात् बिन्दु का पीछे खिसकना तथा उसके परिणाम स्वरूप वर्षारम्भ के काल का पीछे हटना अयनगति के सापेक्ष है । यही कारण है कि स्थिर गणना को निरयण (अयन निरपेक्ष) तथा चल गणना को सायन (अयन सापेक्ष) कहा जाता है ।

निरयण गणना (स्थिरगणना) के अन्तर्गत पंचांग (तिथि पत्रों) में संशोधन की आवश्यकता रहती है । यह संशोधन प्रति ७२ वर्ष में अनिवार्य हो जाता है । परन्तु वर्तमान समय में उपलब्ध भारतीय तिथि-पत्र (पंचांग) का संशोधन निकट भूतकाल में नहीं हुआ है । वर्तमान समय में उपलब्ध पंचांग का संशोधन १७३८ वर्ष पूर्व अर्थात् ३३६१ कलि संवत् अर्थात् २५९ ख्रिस्ताब्द में सैद्धान्तिक काल में हुआ । क्योंकि वर्तमान पंचांग का स्वरूप सैद्धान्तिक आधार पर निर्मित है । सैद्धान्तिक पक्ष के जनक आर्यभट्ट माने जाते हैं । सम्भव है आर्यभट्ट ने ही तृतीय शताब्दी में वर्तमान पंचांग का स्वरूप निश्चित किया होगा । आर्यभट्ट द्वारा संशोधित कर स्थिर किया वर्षमान आज १९९७ तक लगभग २३ अंश ४७ कला ८ विकला एवं २४ प्रतिविकला पीछे पड़ गया है । आर्यभट्ट के समय से वसन्त सम्पात् आज यह २३$\frac{१}{२}$ अंश पीछे पूर्वभाद्रपदा में हो रहा है । अतः वसन्त सम्पात् जो आर्यभट्ट के समय १३ अप्रैल को होता था आज २१ मार्च को होता है तथा मकर संक्रान्ति, जिससे उत्तरायण का आरम्भ माना जाता है, आर्यभट्ट के समय १४

जनवरी को होती थी आज वह २२ दिसम्बर को होती है। तदनुसार वर्तमान पांचांग में संशोधन की आवश्यकता है।

संशोधन की इसी शृंखला में यदि विदेशी कलैण्डर का भी भारतीय पांचांग से मेल करना हो तो भारतीय मासों के समकक्ष अंग्रेजी मासों के रूपान्तरण का स्वरूप भी वर्तमान स्वरूप से भिन्न हो जायेगा। यह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है।

वर्तमान प्रचलित रूप	संशोधित नूतन रूप
चैत्र =२१ मार्च- २० अप्रैल	चैत्र = २१ अप्रैल- २१ मई
वैशाख =२१ अप्रैल- २० मई	वैशाख, २२ मई- २१ जून
ज्येष्ठ = २१ मई- २१ जून	ज्येष्ट, २२ जून- २१ जुलाई
आषाढ़ = 22 जून- २२ जुलाई	आषाढ़, २२ जुलाई- २१ अगस्त
श्रावण = २३ जुलाई- २३ अगस्त	श्रावण, २२ अगस्त- २१ सितम्बर
भाद्रपद = २४ अगस्त- २३ सितम्वर	भाद्रपद, २२ सितम्बर- २१ अक्तूबर
आश्विन = २४ सितम्बर- २३ अक्तूबर	आश्विन, २२ अक्तूबर- २१ नवम्बर
कार्तिक = २४ अक्तूबर- २२ नवम्बर	कार्तिक, २२ नवम्बर- २१ दिसम्बर
मार्गशीर्ष = २३ नवम्बर- २१ दिसम्बर	मार्गशीर्ष, २२ दिसम्बर- २१ जनवरी
पौष = २२ दिसम्बर- २१ जनवरी	पौष, २२ जनवरी- २० फरवरी
माघ = २२ जनवरी- २० फरवरी	माघ, २१ फरवरी- २१ मार्च
फाल्गुन = २१ फरवरी- २० मार्च	फाल्गुन, २२ मार्च- २१ अप्रैल

उपर्युक्त तालिका में प्रदर्शित तुलनात्मक स्वरूप कालगणना के प्रबुद्ध पाठकों के चलगणना विषयक ज्ञानवर्धन में सहायक रहेगा।

८

युगमान

पंचवर्षीय युग

वर्ष से अधिक कालगणना हेतु सूर्य एवं चन्द्रमा के एक ही नक्षत्र में योग को आधार बनाया गया । सूर्य और चन्द्र की पाँच वर्ष बाद पुनः उसी तिथि-नक्षत्र में युति होती है । जैसा कि वेदाङ्ग ज्योतिष का कथन है—

स्वराक्रमेते सोमार्कों यदा साकं सवासवौ ।

स्यात् तदाऽऽदि युगं माघस्तप: शुक्लोऽयनं ह्युदक् ।। (या. ज्यौ. ६)

अर्थात् जब सूर्य और चन्द्र माघशुक्ल प्रतिपदा को धनिष्ठा नक्षत्र में आते थे तो उत्तरायण के साथ ही इस पंचवर्षीय युग का आरम्भ होता था ।

यहाँ पर यह ज्ञातव्य है कि वेदाङ्ग ज्योतिष एवं वराहमिहिर की परम्परा में युगारम्भ धनिष्ठा नक्षत्र से माना गया है । अन्यत्र भास्कराचार्य की परम्परा में अश्विनी नक्षत्र से ही युगारम्भ की मान्यता है । वेदाङ्ग ज्योतिष धनिष्ठा नक्षत्र में सूर्य एवं चन्द्र की युति से पंचवर्षीय युग का आरम्भ मानता है । यही कारण है कि इस के परम्परानुयायी धनिष्ठा नक्षत्र में सूर्य, चन्द्र की युति के साथ बृहस्पति की युति से साठवर्षीय युग का आरम्भ मानते हैं । जबकि भास्कराचार्य की परम्परा इसके विपरीत अश्विनी नक्षत्र से ही साठवर्षीय युगारम्भ को मान्यता देती है । इस विषय को ६० वर्षीय युग के सन्दर्भ विस्तार से स्पष्ट किया जायेगा ।

कहना न होगा कि पंचवर्षीय युग, युगमान की प्रारम्भिक इकाई थी । इस युगमान का आरम्भ भी सृष्टि के प्रारम्भ में ही हुआ । पंचवर्षीय युग के वर्षों का नामकरण निम्न प्रकार से किया गया—

१. संवत्सर २. परिवत्सर ३. इदावत्सर, ४. .अनुवत्सर एवं ५वाँ वर्ष इदवत्सर ।

पंचवर्षीय युग के वर्षों के नामकरण का आधार

पंचवर्षीय युग के विभिन्न वर्षों का नामकरण उन वर्षों में होने वाली वर्षा की मात्रा एवं अन्य प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया । यथा प्रथम वर्ष का नामकरण सम्वत्सर किया गया क्योंकि इस वर्ष में वर्षा के चारों महिनों (चातुर्मास्य) अर्थात्

श्रावण, भाद्रपद, आश्विन एवं कार्तिक में सम मात्रा में वृष्टि देखी गई, न अतिवृष्टि तथा न ही अत्यल्प वृष्टि ।

वृष्टिः समाद्ये (बृहत्संहिता ८.२५)

द्वितीय वर्ष में पूर्वार्द्ध अर्थात् श्रावण एवं भाद्रपद में वृष्टि देखी गई परार्द्ध में अर्थात् आश्विन एवं कार्तिक में वृष्टि का अभाव पाया गया । अतः द्वितीय वर्ष का नाम परिवत्सर रखा गया ।

प्रमुखे द्वितीय (बृहत्संहिता ८.२५)

तृतीय वर्ष में चारों ही महिनों में बहुत मात्रा में वर्षा का प्रवृत्ति पाई गई । अतः तृतीय वर्ष का नाम इदावत्सर रखा गया ।

प्रमुख तोया कथिता तृतीये (बृहत्संहिता ८.२५)

पंचवर्षीय युग के चतुर्थ वर्ष में वर्षा का प्रवृत्ति सामान्यतया चातुर्मास्य अर्थात् वर्षा के महिनों के पश्चात् देखी गई । अतः चतुर्थ वर्ष का नाम अनुवत्सर रखा गया ।

पश्चाज्जलं मुञ्चति यच्चतुर्थम् (बृहत्संहिता ८.२५)

इस प्रकार पञ्चम वर्ष में अत्यल्प प्रवृत्ति पाई गई । अतः उसका नामकरण इदवत्सर किया गया ।

स्वल्पोदकं पञ्चममब्दमुक्तम् (बृहत्संहिता ८.२५)

पंचवर्षीय युग के वर्षों के नामकरण का उक्त आधार वराहमिहिर की परम्परा से प्राप्त होता है । वराहमिहिर की परम्परा सविता से प्रारम्भ होती है तथा वराह मिहिर का समय भी ४१२ शकाब्द अर्थात् ४९० ईश्वी सन् अर्थात् ३५९२ कलि सम्वत् के आस-पास है । वर्षों के इन नामों के आधारभूत वृष्टि लक्षण या तो लाखों वर्ष पूर्व सविता के समय प्रकट थे अन्यथा फिर वराहमिहिर कालीन हैं । वर्तमान सन्दर्भ में उनकी प्रासंगिकता परीक्षणीय है ।

१२ वर्षीय युग

चन्द्रमा एवं सूर्यके बाद बृहस्पति ग्रह को हिन्दुओं ने विशेष महत्त्व दिया इसे उत्तरीध्रुवीय प्रदेश के पूर्वी भागस्थ लोगों (देवों) का गुरु स्वीकार किया गया । क्योंकि बृहस्पति सूर्य की भाँति पूर्व में उदय तथा पश्चिम में अस्त होता है । पश्चिमी भागस्थ लोगों के लिये सूर्य पश्चिम में उदय तथा पूर्व में अस्त होता है तथा शुक्र की प्रक्रिया भी पश्चिम में उदय होने की तथा पूर्व में अस्त होने की है । यही कारण है कि वह पश्चिमी गोलार्द्ध में रहने वाले लोगों (असुरों) का गुरु माना जाता है । पूर्वी

गोलार्द्ध में सर्व प्रथम सूर्य होता है अतः उसे सुर या देव लोक कहते है पश्चिमी गोलार्द्ध में उस समय सूर्य नहीं होता अर्थात् अन्धकार रहता है, अतः उसे असुरलोक कहते हैं । सुर या असुर की ये संज्ञाए गुणवाची न होकर खगोल वाची है । बृहस्पति एक राशि के भोग में लगभग एक वर्ष का समय लगाता है तथा एक भगण चक्र लगभग १२ वर्ष में पूरा करता है । अतः बृहस्पति के भगणचक्र के काल के आधार पर युग की सीमा १२ वर्ष बढ़ा ली गई ।

बार्हस्पत्य युग के वर्षों का नामकरण

बार्हस्पत्य युग के १२वर्षों के नाम राशियों के नक्षत्र के आधार पर रखे जाते हैं । जिस राशि में बृहस्पति ग्रह होता है उसी राशि के नक्षत्र के आधार पर बार्हस्पत्य वर्ष का नाम होता है । उदाहरण के लिये बृहस्पति यदि मेष राशि में होता है तो उसके वर्ष का नाम मेष के नक्षत्र अश्विनी के आधार पर आश्विन होगा । यदि वृष, राशि में है तो वर्ष का नाम कार्तिक । इसी प्रकार शेष वर्षों के नाम मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण तथा भाद्रपद होंगे ।

६० वर्षीय युग

युग की सीमा को अधिक व्यापक बनाने के लिए ५वर्षीय युग का परिगणन बृहस्पति के सन्दर्भ में किया गया । बृहस्पति का एक भगण चक्र १२ वर्षों में पूरा होता था तथा ५ भगण चक्रों का एक युग माना जाता था । अतः भगण चक्रों का काल १२ x५ =६० वर्ष होता है । इस प्रकार युग के मान का क्रमिक विकास तीन चरणों में पूरा हुआ । पहले चरण में युग ५ वर्ष का, दूसरे में १२ वर्ष का तथा तृतीय चरण में ६० वर्ष का युग विकसित हुआ । अश्विनी से प्रारम्भ होने वाले ६० वर्षीय युग के आरम्भ का काल कल्पादि से है, परन्तु धनिष्ठा से प्रारम्भ होने वाले साठ वर्षीय युग का प्रारम्भ ८६ करोड़ ५० लाख वर्ष बाद हुआ, जब घनिष्ठा नक्षत्र में सूर्यचन्द्र की युति के साथ-साथ बृहस्पति की युति हुई थी । ऐसी घटना प्रति ८६ करोड़ ५० लाख वर्ष बाद होती है तथा ऐसा अवसर कल्प में केवल पांच बार आता है । (भारतीय कालगणना की रूप रेखा पृ० १२५) इस आधार की पुष्टि में वल्लालसेन कृत अद्भुत सागर नामक ग्रन्थ में विष्णुधर्मोत्तर पुराण का निम्न सन्दर्भ उद्धृत किया गया है ।

माघ शुक्लसमारम्भे चन्द्रार्कौ वासवर्क्षगौ
जीवयुक्तौ यदा स्यातां षष्ट्यब्दादिस्तदा भवेत् ।

'अर्थात् माघशुक्ल प्रतिपदा को घनिष्ठा नक्षत्र में जब सूर्य, चन्द्र और बृहस्पति की युति होती है, तब ६० वर्षीय युग का आरम्भ होता है। ६० वर्षीय युग के वर्षों का नामकरण भास्कराचार्य एवं वराहमिहिर की परम्परा में एक जैसा ही किया गया है, परन्तु उनका क्रम भिन्न है जो कि निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है।

वराहमिहिर	भास्कराचार्य	वराहमिहिर	भास्कराचार्य
१. प्रभव	विजय	२. विभव	जय
३. शुक्ल	मन्मथ	४. प्रमोद	दुर्मुख
५. प्रजापति	हेमलम्ब	६. अंगिरा	विलम्ब
७. श्रीमुख	विकारिन्	८. भाव	क्षय
९. युवा	प्लव	१०. धाता	शुभकृत्
११. ईश्वर	शोभन	१२. बहुधान्य	क्रोधिन्
१३. प्रमाथी	विश्वावसु	१४. विक्रम	पराभव
१५. वृष	प्लवङ्ग	१६. चित्रभानु	कीलक
१७. सुभानु	सौम्य	१८. तारण	साधारण
१९. पार्थिव	विरोधकृत्	२०. व्यय	परिधाविन्
२१. सर्वजित्	परमादिन्	२२. सर्वधारी	आनन्द
२३. विरोधी	राक्षस	२४. विकृति	अनल
२५. खर	पिङ्गल	२६. नन्दन	कालयुक्त
२७. विजय	सिद्धार्थी	२८. जय	रौद्र
२९. मन्मथ	दुर्मति	३०. दुर्मुख	दुन्दुभि
३१. हेमलम्बी	रुधिरोद्गारिन्	३२. विलम्बी	रक्ताक्ष
३३. विकारी	क्रोधन्	३४. शार्वरी	क्षय
३५. प्लव	प्रभव	३६. शुभकृत	विभव
३७. शोभन	शुक्ल	३८. क्रोधी	प्रमोद
३९. विश्वावसु	प्रजापति	४०. पराभव	अङ्गिरस
४१. प्लवङ्ग	श्रीमुख	४२. कीलक	भाव
४३. सौम्य	युवन्	४४. साधारण	धातृ
४५. विरोधकृत्	ईश्वर	४६. परिधावी	बहुधान्य

४७. प्रमादी	प्रमाथिन्	४८. आनन्द	विक्रम
४९. राक्षस	वृष	५०. अनल	चित्रभानु
५१. पिंगल	सुभानु	५२. कालयुक्त	तारण
५३. सिद्धार्थी	पार्थिव	५४. रौद्र	व्यय
५५. दुर्मति	सर्वजित्	५६. दुन्दुभि	सर्वधारिन्
५७. रुधिरोद्गारी	विरोधिन्	५८. रक्ताक्ष	विकृत
५९. क्रोधन्	खर	६०. क्षय	नन्दन

साठवर्षीय युग के वर्षों के नामकरण का आधार

जैसा कि उपरि प्रदत्त तालिका से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि साठ वर्षीय युग के वर्षों का नामकरण भास्कराचार्य एवं वराहमिहिर की परम्पराओं में एक जैसा हुआ है । हाँ उनकी परम्पराओं में वर्षारम्भ की मान्यता में भिन्नता के दर्शन अवश्य होते हैं । जहाँ भास्कराचार्य की परम्परा प्रथम वर्ष का प्रारम्भ विजय नामक संवत्सर से दर्शाती है वहीं वराहमिहिर की परम्परा भारस्कराचार्य की परम्परा में ३५वें स्थानापन्न वर्ष को प्रथम वर्ष मानकर चलती है । अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन दोनों परम्पराओं में वर्षो का नामकरण एवं क्रम अभिन्न रहने पर भी प्रथम वर्ष का प्रारम्भ कहाँ से हो इस विषय में मतभेद का कारण क्या हो सकता है ? वस्तुतः यह मतभेद मान्यता भेद के कारण है । भास्कराचार्य की परम्परा अश्विनी नक्षत्र अथवा मेष राशि में बृहस्पति की युति से ही साठवर्षीय युग का प्रारम्भ मानती है । क्योंकि सृष्ट्यारम्भ में अर्थात् कल्पारम्भ में भी अश्विनी नक्षत्र अर्थात् मेष राशि में ही सभी ग्रहों सहित बृहस्पति का योग था । अश्विनी नक्षत्र में बृहस्पति के प्रथम योग की कालावधि का नामकरण लक्षणों के आधार पर विजय किया गया । यही कारण है, कि भास्कराचार्य की परम्परा, जो कि कल्पारम्भ के नक्षत्र से बार्हस्पत्य युगारम्भ को मानती है, विजय नामक संवत्सर को ही साठ वर्षीय युग का प्रारम्भिक वर्ष परिगणित करती है ।

द्वादशघ्ना गुरोर्याता भगणा वर्तमानकैः
राशिभिः सहिताः शुद्धाः षष्ट्या स्युर्विजयादयः

(सूर्यसिद्धान्त कपिलेश्वर शास्त्री, चौखम्बा विसं. २०३५, १.५५)

दूसरी तरफ वेदाङ्ग ज्योतिष एवं वराहमिहिर की परम्परा, जैसा कि पूर्वत्र भी स्पष्ट किया जा चुका है, साठवर्षीय युग का प्रारम्भ धनिष्ठा नक्षत्र अर्थात् कुम्भ राशि में बृहस्पति की युति से मानती है ।

आद्यधनिष्ठांशमभिप्रपन्नो माघे यदा यात्युदयं सुरेज्यः

षष्ट्यब्दपूर्वः प्रभवः स नाम्ना प्रपद्यते भूतहितस्तदाब्दः (बृहत्सं० ८.२७)

प्रागेव उपरिनिर्दिष्ट विष्णुधर्मोत्तरपुराण का मत भी उक्त परम्परा की मान्यता का पोषण करता है ।

तदनुसार माघ शुक्ल प्रतिपदा को घनिष्ठा नक्षत्र में जब सूर्य-चन्द्र और बृहस्पति की युति हुई, तब ६० वर्षीय युग का आरम्भ हुआ । इस मान्यता के अनुसार साठ वर्षीय युग का आरम्भ कल्पादि में नहीं हुआ, अपितु कल्पादि से ८६ करोड़ ५० लाख वर्ष बाद हुआ उस समय भास्कराचार्य तालिका क्रम का ३५वां संवत्सर चल रहा था । अतः वराहमिहिर की परम्परा में ३५वे संवत्सर क्रम अर्थात् 'प्रभव' संवत्सर को ही साठवर्षीय युग का प्रारम्भिक वर्ष माना गया । दूसरे विष्णु का प्रथम मत्स्यावतार भी प्रभव संवत्सर में हुआ था । यह भी दैवी परम्परा में संवत्सर को 'प्रभव' से आरम्भ करने का कारण हो सकता है । वैसे भी घनिष्ठा के योग में बृहस्पति के आने को बहुत महत्त्व दिया जाता है । कुम्भ के मेले भी बृहस्पति के कुम्भ राशि अथवा घनिष्ठा नक्षत्रयोग के महत्त्व के परिचायक हैं । घनिष्ठा नक्षत्र के योग में अर्थात् कुम्भ राशि में बृहस्पति की संक्रान्ति को आज भी हम कुम्भ के मेले के रूप में मनाते आ रहे हैं । सम्भवतः यह भेद अवश्य ही दैवी एवं आसुरी परम्परा भेद का द्योतक रहा होगा ।

अब हम नीचे राशि/नक्षत्र/मास के आधार पर घटित होने वाले साठवर्षीय युग के विभिन्न वर्षों को दर्शाते हैं ।

राशि/नक्षत्र/ मास	वर्ष				
मेष/अश्विनी/चैत्र	१ विजय	१३ विश्वावसु	२५ पिङ्गल	३७ शुक्ल	४९ वृष
वृष/अश्विनी/वैशाख	२ जय	१४ पराभव	२६ कालयुक्त	३८ प्रमोद	५० चित्रभानु
मिथुन/मृगशिरा/ ज्येष्ठ	३ मन्मथ	१५ प्लवङ्ग	२७ सिद्धार्थी	३९ प्रजापति	५१ सुभानु
कर्क/पुनर्वसु/आषाढ	४ दुर्मुख	१६ कीलक	२८ रौद्र	४० अङ्गिरा	५२ तारण
सिंह/मघा/श्रावण	५ हेमलम्ब	१७ सौम्य	२९ दुर्मति	४१श्रीमुख	५३ पार्थिव

कन्या/उ० फाल्गु०/भाद्रपद	६ विलम्ब	१८ साधारण	३० दुन्दुभि	४२ भावस	५४ व्यय
तुला/चित्रा/आश्विन	७ विकारी	१९ विरोधकृत	३१ रुधिरोद्गारी	४३ युवा	५५ सर्वजित्
वृश्चिक/विशाखा/ कार्तिक	८ शर्वरी	२० परिधावी	३२ रक्ताक्ष	४ सुधाता	५६ सर्वधारी
धनु/मूल/मार्गशीर्ष	९ प्लव	२१ प्रमादी	३३ क्रोधन	४५ ईश्वर	५७ विरोधी
मकर/उत्तराषाढ़ा/पौष	१० शुभकृत्	२२ आनन्द	३४ क्षय	४६ बहुधान्य	५८ विकृत
कुम्भ/धनिष्ठा/माघ	११ शोभन	२३ राक्षस	३५ प्रभव	४७ प्रमाथी	५९ खर
मीन/पूर्वभाद्रपद/ फाल्गुन	१२ क्रोधी	२४ अनल	३६ विभव	४८ विक्रम	६० नन्दन

इन प्रकार से क्रम भेद की समस्या का समाधान होने पर अगला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि साठवर्षीय युग के विभिन्न वर्षों का नामकरण उक्त प्रकार से क्यों किया गया ? उक्त प्रश्न के समाधान हेतु सूर्यसिद्धान्त के वृत्तिकारों का कथन है–

अथ फलादेशार्थं विजयादयः षष्टिसँवत्सराः मनीषिभिः परिभाषिताः, अर्थात् विभिन्न वर्षों में सम्पादित होने वाले विभिन्न फलाचारों को दृष्टिगत रखकर ही विद्वानों ने उनके नाम विजयादि रखे ।

घनिष्ठा नक्षत्र के तीसरे चक्र के, प्रभव, नामक संवत्सर का आधार बताते हुए वराहमिहिर कहते कि इस वर्ष का नाम प्रभव इस लिये रखा गया कि यह संवत्सर हर बार प्राणियों के हितानुकूल रहता है । **प्रभवः स नाम्ना प्रपद्यते भूतहित स्तदाब्दः** (बृहत्सं० ८.२७)

वृत्तिकार भट्टोत्पल का मत है कि साठ वर्षीय युग का प्रारम्भ उक्त संवत्सर से होता इसलिये उसका नाम प्रभव है–**तस्य प्रारम्भो भवतीत्यर्थः**

पूर्वभाद्रपद के तृतीय चक्र के सवत्सर को विभव एवं अश्विनी, कृत्तिका तथा मृगशिरा के चतुर्थ चक्र के संवत्सरों के नाम विभव, शुक्ल एवं प्रजापति इसलिये रखे गये कि इन वर्षों में राजा वैभवयुक्त, भय एवं दुःखमुक्त, द्वेष रहित, प्रमुदित संताप रहित प्रजाओं का पालन करते देखे गये ।

निष्पन्न शालीक्षुयवादिसस्थां भयैर्विमुक्तामुपशान्त वैराम ।

संहृष्ट लोकां कलिदोषमुक्तां क्षत्रं पदा शास्ति भूतघात्रीम् ॥ (बृह० ८.३०)

पुनर्वसु, मघा तथा फाल्गुन नक्षत्रों के चतुर्थ चक्र के अङ्गिरा, श्रीमुख तथा भावस इत्यादि वर्षों में पुनःपुनः पर्याप्त मात्रा में वृष्टि देखी गई तथा व्यक्ति भी आतङ्क के भय से रहित पाये गये अतः तीनों वर्षों को शुभ माना गया ।

त्रिष्वाद्यवर्षेषु निकामवर्षी देवो निरातङ्कभयश्च लोकः । (बृहत्सं० ८.३२)

इसके अतिरिक्त विशाखा नक्षत्र के चतुर्थ चक्र के वर्ष में सुवृष्टि देखी गई अतः उनका नाम सुधा तथा चित्रा के चतुर्थ चक्र के वर्ष में मध्यम दर्जे की वर्षा अनुभव की गई, अतः उस वर्ष का नाम युवा रखा गया । जिस प्रकार से युवा व्यक्ति न अत्यल्पायु होता है न अत्यधिक आयु वाला होता है उसी प्रकार से जिस वर्ष न ही तो अत्यल्प वर्षा पाई गई न बहुत अधिक उसका नामकरण 'युवा' किया गया ।

अब्दद्वयेऽन्त्येऽपि समा सुवृष्टिः (बृहत्संहिता ८.३२)

मूल नक्षत्र के चतुर्थ चक्र के वर्ष में प्रजा हर-बार कृतयुग की भाँति सुख भोगती तथा धर्मरत देखी गई, अतः उस वर्ष का नाम ईश्वर रखा गया । उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के चतुर्थ चक्र के जिस वर्ष में प्रजा बहुधन धान्य सम्पन्न पाई गई उस वर्ष का नामकरण भी बहुधान्य किया गया ।

आद्यं द्वितीयं च शुभे तु वर्षे कृतानुकारं कुरुतः प्रजानाम् । (बृहसं ८.३४)

घनिष्ठा नक्षत्र के चतुर्थ चक्र के वर्ष में प्रजाओं में हर बार अनिष्ट प्राप्ति देखी गई अतः उस वर्ष का नाम प्रमाथी तथा पूर्वभाद्रपद के चतुर्थ चक्र एवं अश्विनी के पंचम चक्र के जिन वर्षों में सुभिक्ष देखा गया परन्तु साथ-साथ रोग का भय भी पाया गया उन वर्षों के नाम क्रमशः वृष एवं विक्रम रखे गये ।

पापः प्रमाथी वृष विक्रमौ तु सुभिक्षदौ रोगभयप्रदौ च । (बृह० ८.३४)

कृत्तिका नक्षत्र के पंचम चक्र के वर्षों को प्रत्येक आवृत्ति में प्रजाओं के लिये श्रेष्ठ एवं शुभ पाया गया, अतः उसका नाम चित्रभानु रखा गया ।

मृगशिरा नक्षत्र के पञ्चम चक्र के वर्ष को हर बार मध्यमदर्जे का पाया गया अतः उसका नाम सुभानु रखा गया ।

श्रेष्ठं चतुर्थस्य युगस्य पूर्वंयच्चित्रभानुं कथयन्ति वर्षम्

मध्यं द्वितीयं तु सुभानुसञ्ज्ञं रोगप्रदं मृत्युकरं नतं च । (बृह० ८.३५)

पुनवर्सु नक्षत्र के पञ्चम चक्र में आवृत्त होने वाले वर्ष में बहुत मात्रा में वर्षा देखी गई, अतः उसका नामकरण 'तारण' किया गया ।

अगले मघा नक्षत्र के पञ्चम चक्र में वर्तमान वर्ष में अनाज की वृद्धि आदि से लोगों को तथा राजाओं का अतिप्रसन्न देखा गया, अतः उसका नाम ही पार्थिव रख दिया गया ।

उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र के पञ्चम संवत्सर चक्र में पड़ने वाले वर्ष में मन्मथ की प्रधानता देखी गई अतः उत्सवों एवं विवाह आदि के उद्यम में प्रजाओं को धन एवं शक्ति का व्यय करते पाया गया, यही कारण था कि उक्त वर्ष का नाम भी व्यय रखा गया ।

तारणं तदनु भूरिवारिदं सस्यवृद्धिमुदिताति पार्थिवम् ।
पञ्चमं व्ययमुशन्ति शोभनं मन्मथ प्रबलमुत्सवाकुलम् ।। (बृह० ८.३६)

चित्रा नक्षत्र के पञ्चम संवत्सर चक्र में आने वाले वर्ष में प्रजाओं में भय प्राप्ति देखी गई, अतः उसका नामकरण भी सर्वजित किया गया । विशाखा नक्षत्र के पञ्चम चक्र के वर्ष को प्रजाओं के लिये कल्याणप्रद पाया गया, अतः उसको 'सर्वधारी' के नाम से जाना गया ।

इसके विपरीत मूल, उत्तराषाढ़ा एवं घनिष्ठा नक्षत्रों के पञ्चम चक्र के वर्षों को भी प्रजाओं के लिये अनिष्टकारक पाया गया, अतः उनके नाम भी क्रमशः 'विरोधी', 'विकृत' तथा 'खर' रखे गये ।

त्वाष्ट्रे युगे सर्वजिदाद्य उक्तः संवत्सरोऽन्यः खलु सर्वधारी ।
तस्माद्विरोधी विकृतः खरश्च शास्त्रो द्वितीयोऽत्र भयाय शेषाः ।।बृह० ८.३७

पूर्वभाद्रपद के पञ्चम चक्र के वर्ष को शुभकारक होने से प्रजाओं को प्रसन्न रखने के कारण 'नन्दन' नाम से पुकारा गया ।

अश्विनी एवं कृत्तिका नक्षत्र के प्रथम चक्र के वर्षों को भी प्रजाओं के लिये शुभदायक एवं विजय को प्रदान करने वाले पाया गया, अतः उनके नाम भी क्रमशः 'विजय' तथा 'जय' रखे गये ।

कान्तमत्रयुगं आदिस्त्रयम् । (बृह० ८.३८)

मृगशिरा के प्रथम चक्र के वर्ष को समफल देने वाला अर्थात् न शुभ और नही अशुभ पाया गया अतः उसका नामकरण 'मन्मथ' किया गया ।

मन्मथः समफलो (बृह० ८.३८)

इसके विपरीत पुनवर्सु के प्रथम चक्र में आने वाले वर्ष को अशुभफल प्रदान करने वाला देखा गया, अतः उसका नाम भी दुर्मुख रखा गया ।

अधमोऽपरः (बृह० ८.३८)

मघा नक्षत्र के प्रथम संवत्सर चक्र के वर्ष को ईतिप्रायिक अर्थात् अतिवृष्टि आदि उपद्रव बहुल एवं तुफानी वर्षा वाला जाञ्चा गया, अतः उसका नामकरण भी हेमलम्ब नाम से किया गया ।

ईतिप्राया प्रचुरपवना वृष्टिरब्दे तु पूर्वे (बृह० ८.४०)

उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र में बृहस्पति के प्रथम योग के समय वर्षा एवं सस्य (अनाज) की मात्रा में विलम्बन अर्थात् मन्दता पाई गई। अतः उस वर्ष का नामकरण 'विलम्बि' किया गया ।

मन्दं सस्यं न बहुसलिलं वत्सरेऽतो द्वितीये । (बृह० ८.४०)

चित्रा नक्षत्र में बृहस्पति के प्रथम योग के समय प्रचुर मात्रा में जल तथा उद्वेगों के दर्शन हुए अतः उस वर्ष को 'विकारी' कह कर पुकारा गया ।

विशाखा नक्षत्र में बृहस्पति की प्रथम युति की अवधि में दुर्भिक्ष देखे गये, अतः उस अवधि का नामकरण 'शर्वरी' किया गया ।

अत्युद्वेगः प्रचुरसलिलः स्यात्तृतीयश्चतुर्थो दुर्भिक्षाय । (बृह० ८.४०)

मूल नक्षत्र के प्रथम योग में बहुत वर्षा देखी गई अतः उस अवधि का नामकरण भी 'प्लव' किया गया ।

प्लव इति ततः शोभनो भूरितोयः (बृह० ८.४०)

बृहस्पति जब पहली बार उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के योग में आता है तो शुभदायक रहता है, अतः उस अवधि को शुभकृत् कहा गया । क्योंकि लोगों के शोक का उच्छेद हो जाता है अतः उसे 'शोकहृद्' अथवा 'शोककृत्' भी कहा गया है ।

वैश्वेयुगे शोकहृदित्यथाद्यः संवत्सरोऽतः शुभकृद् द्वितीयः बृह० ८.४१

पूर्वा परौ प्रीतिकरौ प्रजानामेषां तृतीयो बहुदोषदोऽब्दः ॥ बृह० ८.४२

उत्तराषाढ़ा के बाद जब घनिष्ठा नक्षत्र में बृहस्पति की युति होती है तब भी उक्त परिस्थितियां देखने को मिली, अतः उस अवधि का नामकरण शुभकृद् अथवा शोभन किया गया ।

पूर्वभाद्रपद के प्रथम योग के समय बृहस्पति को बहुत दोष जनक एवं अशुभ पाया गया, अतः उक्त योगावधि का नाम 'क्रोधी' रखा गया ।

तृतीयो बहुदोषदोऽब्दः (बृह० ८.४२)

अश्विनी नक्षत्र के द्वितीय योग में बृहस्पति को समफल देने वाला पाया गया अर्थात् न शुभ एव न ही अशुभ । ऐसी परिस्थिति में सब प्राणी भली भाँति बसते पाए गये । अतः उक्त कालावधि का नामकरण भी 'विश्वावसु' किया गया ।

परन्तु पुनः कृत्तिका नक्षत्र के द्वितीय योग में प्राणियों को रोग एवं शास्त्रों से परास्त या पस्त होते पाया गया, अतः उक्त योगावधि का नामकरण 'पराभव' किया गया ।

अन्त्यौ समौ किन्तु पराभवेऽग्निः शस्त्रामयार्तिर्द्विजगोभयं च । बृह० ८.४२

मृगशिरा के साथ द्वितीय योग में प्रजाओं को बहुप्रकार के कष्टों की प्राप्ति देखी गई । अतः उक्त कालावधि का नामकरण भी 'प्लवङ्ग' किया गया ।

कष्टः प्लवङ्गो बहुशः प्रजानां । (बृह० ८.४४)

पुनर्वसु तथा मधा के द्वितीय योग में बृहस्पति को शुभ दायक पाया गया, अतः उक्त कालावधि योग को क्रमशः 'कीलक' एवं 'सौम्य' कहा गया ।

शुभप्रदौ कीलकसौम्य संज्ञौ । (बृह० ८.४३)

उत्तरफाल्गुनी की दूसरी बार युति में स्वल्प वृष्टि एवं ईतियों (अनावृष्टि आदि) को देखा गया । अतः उक्त योग की कालावधि का नामकरण भी 'साधारण' किया गया । तदनन्तर चित्रा नक्षत्र के दूसरी बार योग में आने पर विचित्र ढंग की वृष्टि कहीं-कहीं पाई गई । अतः उक्त योग की कालावधि का नामकरण 'रोधकृत्' अथवा 'विरोधकृत्' किया गया । जिसका अभिप्राय था कि वर्षा का रोध (रुकावट) करने वाला काल ।

यः पञ्चमो रोधकृदित्यथाब्दश्चित्रं जलं तत्र सस्य सम्पत् । (बृह० ८.४४)

बृहस्पति जब विशाखा नक्षत्र के साथ दूसरी बार योग में आता है तब केन्द्रीय प्रदेश का विनाश, राजा की मृत्यु, अल्पवृष्टि एवं अग्नि का प्रकोप देखा गया । अतः उक्त योग की कालावधि को 'परिधावी' कहा गया ।

परिधाविनि मध्यदेशनाशो नृपहानिर्जलमल्पमग्नि कोपः । (बृह० ८.४६)

मूल नक्षत्र के द्वितीय योग में प्रजा में आलस्य भाव तथा दीर्घसूत्रता देखी गई । अतः उक्त योग की कालावधि का नामकरण भी 'प्रमादी' किया गया ।

अलसस्तु जनः प्रमादिसंज्ञे डमरं रक्तकपुष्प बीजनाशः । (बृह० ८.४६)

मकर राशि अर्थात् उत्तराषाढ़ा के द्वितीय योग में बृहस्पति समस्त लोगों को समृद्धि एवं आनन्द देने वाला होता है, अतः दूसरी बार मकर राशिगत बृहस्पति के वर्ष को 'आनन्द' की संज्ञा दी गई है ।

घनिष्ठा नक्षत्र के तीसरी बार योग में बृहस्पति लोगों के लिये क्षयकारक या विनाशक सिद्ध होता है अतः उक्त कुम्भराशीस्थ बृहस्पति के वर्ष की 'राक्षस' संज्ञा की गई है।

पूर्वभाद्रपदा के योग में अनल अर्थात् अग्नि की भाँति प्रकोप करने वाला सिद्ध होता है। अतः दूसरी बार मीनराशीस्थ बृहस्पति के वर्ष का नाम भी 'अनल' ही रखा गया।

विक्रमः सकललोकनन्दनो राक्षसः क्षयकरोऽनलस्तथा। (बृह० ८.४७)

तदनन्तर बृहस्पति पुनः तीसरी आवृत्ति करता हुआ जब मेष राशि के अश्विनी नक्षत्र के योग में आता है, तब प्रचण्ड अतिवृष्टि होती है, लोग श्वास एवं कास जैसे रोगों से पीड़ित पाये गये, अतः तीसरी बार मेषस्थ बृहस्पति के वर्ष की 'पिङ्गल' संज्ञा की गई।

आद्ये तु वृष्टिर्महती सचोरा श्वासो हनूकम्पयुतश्च कासः। (बृह० ८.४८)

तीसरे चक्र में अगले वर्ष जब बृहस्पति वृष राशि में प्रविष्ट होता है तो कृत्तिका नक्षत्र से संयुक्त होने पर लोगों को कालक्वलित होते पाया गया। अतः इस वर्ष का नामकरण भी 'कालयुक्त' किया गया।

यत्कालयुक्तं तदनेकदोषम् (बृह० ८.४९)

परन्तु ज्यों हि बृहस्पति मिथुन राशिगत मृगशिरा के योग में आता है तो लोग धनधान्य सम्पन्न हो जाते है तथा उनकी कामनओं की सिद्धि हो जाती है। अतः उक्त वर्ष का नामकरण 'सिद्धार्थी' किया गया।

सिद्धार्थसंज्ञे बहवो गुणाश्च। (बृह० ८.४९)

इसी तृतीय चक्र में कर्क राशि में प्रविष्ट हुआ बृहस्पति जब पुनवर्सु नक्षत्र के योग में आता है तो लोगों को क्षय प्रदान कर रुलाता है, अतः उस वर्ष का नामकरण भी 'रौद्र' किया गया।

रौद्रोऽति रौद्रः क्षयकृत् प्रदिष्टो। (बृह० ८.४९)

इसी तृतीय चरण में सिंह राशि अर्थात् मघा नक्षत्र से संयुक्त बृहस्पति को मध्यम वृष्टि देने वाला पाया गया, अतः सिंहस्थ बृहस्पति के तीसरे चरण के वर्ष का नामकरण 'दुर्मति' किया गया।

यो दुर्मति र्मध्यमवृष्टिकृत् सः। (बृह० ८.४९)

कन्यागत बृहस्पति को उत्तर फाल्गुनी के योग में अत्यधिक अनाज की वृद्धि करने वाला पहचाना गया, जिससे लोग प्रसन्न होकर दुन्दुभि आदि वाद्य मस्त

होकर बजाते तथा नृत्य करते हैं। यही कारण है कि बृहस्पति के उस वर्ष का नामकरण 'दुन्दुभि' ही कर दिया गया।

भाष्ये युगे दुन्दुभिसंज्ञमाद्यं सस्यस्य वृद्धिं महतीं करोति। (बृह० ८.५०)

पुनः तुलागत होकर चित्रा नक्षत्र के योग में बृहस्पति अतिप्रचण्ड वर्षा का हेतु पाया गया। फलस्वरूप राजा एवं प्रजाओं के लिये विनाश कारी पाया गया। अतः इस वर्ष का नामकरण 'अङ्गार' किया गया। सम्प्रति इसे 'रुधिरोद्गारी' के नाम से जाना जाता है।

अङ्गारसंज्ञं तदनु क्षयाय नरेश्वराणां विषमा च वृष्टिः। (बृह० ८.५०)

तदनन्तर वृश्चिक राशि में प्रविष्ट हुआ बृहस्पति विशाखा नक्षत्र के योग में अनेक रोगों के हेतु के रूप पहचाना गया। यही कारण है कि वृश्चिक राशिगत कालावधि का नामकरण 'रक्ताक्ष' किया गया।

रक्ताक्षमब्दं कथितं तृतीयं तस्मिन् भयं दंष्ट्रिकृतं गदाश्च। (बृह० ८.५१)

धनुराशिगत मूल नक्षत्र के योग में बृहस्पति के तीसरे चक्र में प्राप्त होने पर प्राणियों में क्रोध की वृद्धि पाई गई, अतः इस कालावधि का नामकरण भी क्रोधन् किया गया।

क्रोधं बहुक्रोधकरं चतुर्थम्। (बृह० ८.५१)

राष्ट्राणि शून्यी कुरुते विरोधैः

इसी तृतीय चक्र में मकरराशि में प्रविष्ट होकर जब उत्तराषाढ़ा के योग में आता है तो बृहस्पति प्राणियों का बहुत प्रकार से क्षय अथवा विनाश देखा गया। अतः इस कालावधि का नामकरण भी 'क्षय' ही किया गया।

क्षयमिति युगस्यान्त्यस्यान्त्यं बहुक्षयकारकम्। (बृह० ८.५२)

उक्त विवरण से स्पष्टता ज्ञात होता है कि बृहस्पति विभिन्न राशियों में प्रविष्ट होकर विभिन्न नक्षत्रों के योग में पृथिवी पर प्राणी जीवन को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करता है, अतः उसके प्रभावाधीन विभिन्न कालावधियों का नामकरण भी विभिन्न प्रकार से किया गया। यहाँ पर यह ज्ञातव्य है कि विभिन्न राशियों के अन्तर्गत पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे एवं पाँचवे क्रम में बृहस्पति अलग-अलग ढंग से पृथिवी के प्राणी जीवन को प्रभावित करता है। तदनन्तर छटे, सातवें, आठवें, नवें एवं दसवें क्रम में वही प्रभाव लक्षित होते हैं जो क्रमशः पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे तथा पाँचवें क्रम में लक्षित हुए थे। इस प्रकार से पाँच आवृत्तियों के बाद अगली पाँच आवृत्तियों में बृहस्पति के प्रभावों की पुनरावृति पाई गई। यह भी एक कारण था कि बार्हस्पत्य युग की अवधि ६० वर्ष की निश्चित की गई।

साठवर्षीय युग का वर्तमान संवत्सर

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि बार्हपत्य वर्षों का नामकरण तो एक ही जैसा पाया जाता है परन्तु उनके क्रम में वैभिन्न्य प्राप्त होता है ।

वर्तमान समय में खगोलीय सिद्धान्तों का निर्वाह मुख्यतः दो परम्पराओं में पाया जाता है । एक दैवी परम्परा के नाम से विख्यात है, दूसरी आसुरी परम्परा । दैवी परम्परा उदीच्य एवं प्राच्य लोगों का प्रतिनिधित्व करती है । आसुरी परम्परा दाक्षिणात्य एवं पाश्चात्य लोगों का प्रतिनिधित्व करती है ।

यहाँ पर यह निर्दिष्ट करना भी अनिवार्य होगा कि जहाँ दोनों परम्पराओं में मान्यता भेद है अर्थात् जहाँ आसुरी परम्परा कल्पारम्भ में अश्विनी नक्षत्र की संक्रान्ति वाले वर्ष से ही साठवर्षीय युग का आरम्भ मानती है, दैवी परम्परा धनिष्ठा की संक्रान्ति वाले वर्ष से युगारम्भ मानती है, वहाँ दोनों परम्पराओं में मूलभूत अन्तर यह है कि आसुरी (दाक्षिणात्य) परम्परा तो सौर वर्ष (३६५ दिन) के राबर ही बृहस्पति संवत्सर का कालमान मानती है । परन्तु दैवी अर्थात् (उदीच्य) रम्परा बृहस्पति की राशि में युति की वास्तविक कालावधि, जो कि ३६१ दिन २ घटी ५५ पल तथा २५ विपल है, को बार्हस्पत्य वर्ष का कालमान मानती है । यह काल सौर वर्ष से लगभग ४ दिन १३ घटी कम होता है । यह अन्तर बढ़ते-बढ़ते ८५वें वर्ष में लगभग एक संवत्सर के तुल्य हो जाता है । अतः ८५वें वर्ष में सौर वर्ष की तुलना में एक बृहस्पति संवत्सर का लोप कर दिया जाता है ।

इस मूलभूत अन्तर के कारण दोनों परम्पराओं में वर्तमान संवत्सर को जानने का गणित भी भिन्न-भिन्न है । दोनों ही परम्पराओं में संवत्सर का नाम एक जैसा ही आता है, क्रम में वैभिन्न्य तो अवश्य ही रहता है ।

आसुरी (दाक्षिणात्य) परम्परा में साठवर्षीय युग का संवत्सर जानने की विधि

दाक्षिणात्य परम्परा में सौर वर्षों के तुल्य ही बृहस्पति वर्ष का मान माना जाता है । अतः गत सृष्ट्याब्द अथवा कलि अब्द को ६० से भाग देकर जो शेष बचता है वह विजयादि वाला गत संवत्सर होता है । उदाहरणार्थ ५०९८ गतकलि को ६० से भाग देने पर ५८ शेष रहता है जो कि इस बात का द्योतक है कि बृहस्पति का गत संवत्सर भास्कराचार्य के क्रम का ५८वां संवत्सर अर्थात् 'विकृत' है । वर्तमान में बृहस्पति के कुम्भ राशि में प्रवेश से 'खर' संवत्सर का प्रारम्भ है । अगले वर्ष प्रयाग में कुम्भ के मेले के रूप में बृहस्पति की उक्त कुम्भ संक्रान्ति को मनाया जायेगा । इस प्रकार से दाक्षिणात्य परम्परा में अगले वर्ष बृहस्पति के साठ वर्षीय युग के कलिगत ८५वें चक्र का अन्त होकर ८६वें चक्र का प्रारम्भ होने

वाला है । यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि दाक्षिणात्य परम्परा में प्रत्येक युग का आरम्भ विजय संवत्सर से होता है इसी प्रकार वर्तमान कलियुग के आरम्भ में भी विजय नामक संवत्सर था ।

दैवी (उदीच्य) परम्परा में साठवर्षीय युग का संवत्सर जानने की विधि

बार्हस्पत्य वर्ष को सौर वर्ष के तुल्य न मानकर बृहस्पति के एक राशि में औसत काल को बार्हस्पत्य वर्ष का कालमान माना जाता है ।बृहस्पति का एक राशि में औसत काल ३६१ दिन २ घटी ५५ पल तथा २५ विपल है, जो कि सौर वर्ष से ४ दिन १५ घटी कम है । दैवी परम्परा में बार्हस्पत्य वर्ष जानने की विधि वराहमिहिर ने निम्न प्रकार से बताई है ।

गतानि वर्षाणि शकेन्द्रकालाद्धतानि रुद्रैर्गुणयेच्चतुर्भिः ।
नवाष्टपञ्चाष्ट (८५८९) युतानि कृत्वा विभाजयेच्छून्य शरागरामैः ३७५०
लब्धेन युक्तं शकभूपकालं संशोध्य षष्ट्या विषयैर्विभज्य ।
युगानि नारायण पूर्वकाणि लब्धानि शेषाः क्रमशः समाः स्युः ।।

(बृह० ८.२०-२)

उक्त विधि के अनुसार गत शकाब्द को ११ एवं ४ से गुणा करके उसमें ८५८९ को जोड़ना है । कुलयोग को ३७५० से विभाजित करके जो लब्धि हो उसे गत शकाब्द में जोड़े फिर उस जोड़ को ६० से भाग देने पर जो शेष बचे वह प्रभवादि वाला दैवी परम्परा का गत संवत्सर होगा । उदाहरणार्थ गत शकाब्द १९१९ को ११ से गुणा करने पर २११०९ प्राप्त होता है तदनन्तर २११०९ को चार से गुणा करने पर (२११०९x४=) ८४४३६ प्राप्त होता है । ८४४३६ में ८५८९ को जोड़ने पर (८४४३६+८५८९=) ९३०२५ प्राप्त होता है । ९३०२५ को ३७५० से भाग करने पर २५ लब्धि आती है ।

उक्त २५ लब्धि को गतशकाब्द में जोड़ने पर (१९१९+२५=) १९४४ प्राप्त होता है जिसे ६० से भाग देने पर २४ शेष प्राप्त होता है । जिससे अभिप्राय है कि गत बार्हस्पत्य वर्ष दैवी परम्परा का २४वें स्थान पर उद्धृत वर्ष था अर्थात् 'विकृत' । वर्तमान वर्ष कुम्भ योग वाला 'खर' हुआ जोकि दैवी सूची में २५वें स्थान पर है । इस प्रकार जाञ्च करने पर ज्ञात होता है कि दोनों ही विधियों से बार्हस्पत्य वर्ष का नाम एक जैसा ही प्राप्त होता है । हाँ उनका क्रम भिन्न-भिन्न परम्पराओं में भिन्न-भिन्न अवश्य है ।

बार्हस्पत्य वर्ष को दैवी परम्परा में जानने का एक अन्य गणित भी है जो मूलरूप से वराहमिहिर के गणित से ही मेल खाता है, उसका स्थूल रूप अवश्य ही भिन्न दिखाई देता है। इस गणित का परिचायक श्लोक निम्न है—

पृथक् शको जातिहतोऽब्जगोऽक्षिवेदैर्युतोऽक्षाद्रि पुराण भक्तः।

लब्धेन युक्तः खरसाप्तशेषे संवत्सराः स्युः प्रभवात् क्रमेण॥

अर्थात् शक संवत् को पृथक्-पृथक् दो स्थानों पर लिखें। एक स्थान में २२ से गुणा करके ४२९१ को जोड़े। कुल योग को १८७५ से भाग देकर जो लब्धि प्राप्त हो उसे दूसरे स्थान पर स्थित शकसंवत् में जोड़ें फिर उसे ६० से भाग देने पर जो शेष प्राप्त हो वही प्रभवादि का गत बार्हस्पत्य वर्ष कहलाएगा।

यथा गत शक संवत १९१९ को २२ से गुणा करने पर गुणनफल (१९१९x २२ =) ४२२१८ प्राप्त होता है जिसमें ४२१९ जोड़ने पर (४२२१८+ ४२१९=) ४६५०९ प्राप्त होता है। ४६५०९ को १८७५ से भाग देने पर २५ लब्धि आती है। २५ लब्धि को पुनः १९१९ में जोड़ने पर १९४४ योग आता है, जिसे ६० से भाग देने से २४ शेष प्राप्त होता है इससे तात्पर्य यह है कि वर्तमान बार्हस्पत्य वर्ष जो वर्तमान अथवा दैवी परम्परा में २४वाँ स्थानापन्न 'विकृत्' कहलाएगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि उदीच्य एवं दाक्षिणात्य परम्पराओं में बार्हस्पत्य वर्ष के नामकरण के सन्दर्भ में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है, अपितु उनके क्रम में ही अन्तर है जो कि वर्ष का प्रारम्भ क्रमशः अश्विनी और घनिष्ठा नक्षत्र में बृहस्पति के योग को मानने के ही कारण है।

यहाँ यह बता देना भी आवश्यक होगा कि दैवी (उदीच्य) परम्परानुसार वर्तमान २५वां बार्हस्पत्य वर्ष चल रहा है, परन्तु आसुरी (दाक्षिणात्य) परम्परानुसार वर्तमान बार्हस्पत्य वर्ष संख्या ५९ है। वर्ष बाद दाक्षिणात्य परम्परा का वर्तमान साठ वर्षीय संवत्सर चक्र समाप्त होने जा रहा है।

९

दिव्यमान

उपर्युक्त युगमान के अतिरिक्त वैदिक ऋषियों ने पता लगा लिया था कि पृथिवी अपनी धुरी पर झुकी हुई है। ओरायन (Orion) के पृष्ठ १५८ पर तिलक कहते हैं कि प्रो० लुडविग के अनुसार ऋग्वेद में क्रान्तिवृत्त तथा विषुववृत्त की नति का उल्लेख मिलता है। Prof. Ludvig goes further and holds that the *RV.* mentions the inclination of the ecliptic with equator (1.1.10) and the axis of the earth (10.89.4) वैदिकों ने ज्ञात कर लिया था कि इस झुकाव के कारण उसके उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुव क्रमशः छः महीने सूर्य के सामने तथा छः महीने सूर्य से ओझल रहते हैं। इससे ध्रुवों पर छः महीने का दिन एवं छः महीने की रात्रि होती है।

तैत्तिरीय संहिता से एतद्विषयक जानकारी उपलब्ध होती है— यथा

तस्मादादित्यः षण्मासो दक्षिणेनैति षडुत्तरेण (तैसं० ६.५.३.४.)

(अर्थात् सूर्य छः महीने उत्तर एवं छः महीने दक्षिण में रहता है) ऋग्वेद से भी उक्त तथ्य की जानकारी प्राप्त होती है, यथा

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद्रोदसी विबबाधे अग्निः

ततः षष्ठदामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यत्यभि षष्ठमह्न ॥ (अथर्व. ८.९.९)

अर्थात् वैश्वानर राशिपथ पर सूर्य छः भाग एक ओर और छः भाग दूसरी ओर रहता है। इसी से ध्रुवों में छः मास की रात और छः मास का दिन होता है।

इस वैश्वानर नामक राशिचक्र का वर्णन वाल्मीकि रामायण में भी आया है—

गगने तान्यनेकानि वैश्वानरपथाद्बहिः

नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ ते तु ज्योतिषु जाज्वलन् (बाल. सर्ग. ६०)

अर्थात् गगन में वैश्वानर पथ के बाहर बहुत से चमकीले नक्षत्र हैं।

देवी भागवत (८.१५.१-९) के अनुसार राशिपथ पर धनु, कुम्भ तथा मीन राशि को मिलाकर वैश्वानर पथ बनता है।

चूंकि सृष्टि के प्रारम्भ में सूर्योदय के समय उत्तरी ध्रुव ही सूर्य के समक्ष था, अतः उत्तरी ध्रुव सुर लोक एवं दक्षिणी ध्रुव सूर्य से परे होने के कारण असुर लोक कहलाया है। इनके कालान्तर में नाम देव एवं दानव लोक भी पड़े। इनके

नामकरण के पीछे कोई श्रेष्ठता अथवा नीचता का भाव न था जैसा कि मध्यकाल में तथा आजकल माना जाता हैं । प्रत्युत सूर्य की उपस्थिति ही मुख्य कारण थी । इसी नामकरण के आधार पर कालान्तर में, जैसा कि पहले भी बताया गया है, पूर्वी गोलार्द्ध में रहने वाले लोगों को सुर या देव कहा जाने लगा चूंकि पूर्व दिशा में सूर्य पहले निकलता है एवं पश्चिमी गोलार्द्ध के लोगों को असुर या राक्षस कहा गया है । इसी प्रकार उत्तरी दिगस्थ लोगों को सुर या देव एवं दक्षिण दिगस्थ लोगों को असुर या राक्षस की संज्ञा दी गई । यहाँ यह ठीक से बताना फिर आवश्यक होगा कि नामकरण के प्रारम्भिक काल में सुर या असुर, देव या राक्षसी नामकरणों के पीछे कोई महानता या हीनता का दृष्टिकोण नहीं था, प्रत्युत यह तो बहुत काल बाद पैदा हुआ । इस प्रकार छः महीने की रात एवं छः महीने के दिन वाले असुर या सुर लोक का एक दिन मनुष्य लोक अर्थात् विषुवत् लोक के एक वर्ष के बराबर माना गया । इसी विषय का स्पष्ट वर्णन तैत्तिरीय संहिता में मिलता है—

एकं वा एतद्देवानामहः यत्संवत्सरः ।

अर्थात् मनुष्यों का संवत्सर देवताओं के एक दिन के बराबर होता है । पारसियों के धर्म ग्रन्थ जेंदावेस्ता, जो कि वेद की ही किसी शाखा का अपभ्रष्ट रूप है, में भी यही लिखा है—

त एच अयर मइन्य एन्ते यत यरे ।

इसका संस्कृत वाक्य इस प्रकार बनता है—

ते च अहरं मन्यन्ते यद्वर्षम् ।

अर्थात् वे (देव) एक वर्ष को एक दिन मानते हैं । इस प्रकार से एक दिव्य वर्ष मनुष्यों के ३६० वर्ष के तुल्य बना ।

१०

चतुर्युगमान

अत्यधिक लम्बी कालावधि के परिगणन के लिये, अत्यधिक लम्बी अवधि वाले युगों का निर्माण भी किया गया। एवं विभिन्न दिव्य युग मनुष्यों के क्रमशः १८०० वर्ष, ४३२० वर्ष एवं २१६०० वर्षों के तुल्य हुए। १२०० दिव्य वर्षो को अर्थात् ४ लाख ३२ हजार मानव वर्षों को एक कलियुग की संज्ञा दी गई। कलि का अर्थ है एक, कलियुग से दुगने काल का अर्थात् २४०० दिव्य वर्ष अथवा ८ लाख ६४ हजार मानव वर्षों का द्वापर कहलाया। कलियुग से तिगुने काल का अर्थात् ३६०० दिव्य वर्ष अथवा १२ लाख ९६ हजार मानव वर्षों का एक त्रेता युग कहलाया एवं कलियुग से चौगुने समय के बराबर अर्थात् ४८०० दिव्य वर्षों का अथवा १७ लाख २८ हजार मानव वर्षों की सत्ययुग संज्ञा की गई। चारो युगों को मिलाकर महायुग संज्ञा हुई।

परन्तु यहाँ पर उल्लेखनीय है कि बहुत से विद्वान् कालगणना को न्यूनातिन्यून परिमाण पर स्थापित करने लिये दिव्य मान को ही युग का प्रमुख आधार मानते हैं तथा कलियुग आदि की गणना १२०० आदि दिव्य वर्षों के आधार पर करते हैं। वस्तुतः ऐसा उचित नहीं है। यह तो केवल खगोलीय दृष्टि से कहने का एक प्रकार मात्र है। इसका अवधि के न्यूनाधिक्य से कोई सम्बन्ध नहीं है।

सूर्यसिद्धान्त के अनुसार महायुग धर्म के स्वरूप वाला है। मंनुस्मृति के अनुसार धर्म के १० चरण माने जाते हैं।

धृतिक्षमा दमोऽस्तेयं शौचं इन्द्रियनिग्रहः
धीर्विद्याऽक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम् (मनु. ७.७२)

अतः इस दृष्टि से भी धर्म के एक चरण वाला कलियुग, दो वाला द्वापर, तीन वाला त्रेता एवं चार वाला सत्ययुग कहलाता है। कुल मिलाकर १ + २ + ३ + ४ = १० चरण ही निष्पन्न होते हैं। जनसामान्य में भी ऐसी किंवदन्ती का श्रवण होता है कि सत्ययुग धर्म के चारों स्तम्भों पर खड़ा था, त्रेता में धर्म के तीन चरण शेष रह गये, द्वापर में केवल दो चरण ही रह गये तथा कलियुग में तो धर्म का एक ही चरण बाकी है। यही कारण है कि सत्ययुग में लोग बहुत धर्मात्मा

थे तथा कलियुग में बहुत पापी हो गये है। वस्तुतः इस किंवदन्ती का सम्बन्ध स्पष्टतया कालगणना से था न कि श्रेष्ठाचरण किंवा दुराचरण से।

कलियुगमानादि का आधार

भारतीय मनीषा के अनुसार कल्पारम्भ में सातों ग्रह अपने भोग एवं शर सहित एकत्र थे। जैसा कि ब्रह्मगुप्त तथा आर्यभट्ट द्वितीय ने बताया है। पुनः ४,३२,००० वर्ष बाद ये ग्रह अपने भोग एवं शर को छोड़कर एक जगह आते हैं। अतः इनकी एक युति के काल को कलियुग, दो युति के काल को द्वापर (अर्थात् कलियुग से दुगना) तीन युति के काल को त्रेता तथा चार युति के काल को कृतयुग कहते हैं। वर्तमान कलियुग का आरंभ ३१०२ वर्ष ईसा पूर्व २० फरवरी को दो बजकर २७ मिनट ३० सैकेंड पर हुआ उस समय सभी ग्रह एक ही राशि में थे। इस विषय पर यूरोप के प्रसिद्ध ज्योतिषी बैली का कथन इस प्रकार है।

'According to astronomical calculations of the Hindus, the present period of the world, *Kaliyuga*, commenced 3102 years before the birth of Christ on the 20th Feb. at 2 hours 27 minutes and 30 seconds, the time being thus calculated to minutes and seconds. They say that a conjuction of planets then took place and their table show this conjunction. It was natural to say that a conjunction of the planets then took place. The calculation of the Brahmins is so exactly confirmed by our own astronomical tables that nothing but actual observation could have given so correspondent a result.

(*Theogony of Hindus,* by Count Bjornstjerna p.32)

११

मन्वन्तरमान

भारतीय मनीषियों ने चतुर्युग एवं महायुग के अतिरिक्त और भी अधिक दीर्घावधि वाले मन्वन्तरमान को गवेषित किया। इस उच्चतर अवधि के कालमान का आधार जगत्क्रम के परिवर्तन एवं पृथिवी की ध्रुवता के परिवर्तन में लगने वाले काल को बनाया। सृष्टिक्रम का परिवर्तन ३०,८४,४८,००० वर्षों में होता है। योगवासिष्ठ निर्वाण प्रकरण में इस तथ्य पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है, यथा–

प्रतिमन्वन्तरं ब्रह्मन्विपर्यस्ते जगत्क्रमे।
संनिवेशेऽन्यथा जाते प्रयाते संश्रुते जने॥ २२.३७
संस्थानमन्यथा तस्मिन्स्थिते यान्ति दिशोऽन्यथा।
न सन्नासज्जगन्मन्ये भ्रमयन्केवलं धियः॥ २२.४७

उपर्युक्त तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए ही ३०,८४,४८,००० वर्षों के काल खण्ड को मनु कहा गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह भौगर्भिक तथ्य खगोलीय तथ्य से सम्बद्ध है। वैदिक ऋषियों ने वर्तमान सृष्टि को पञ्चमण्डल क्रम वाली खोजा। ये पाँच मण्डल इस प्रकार हैं— चन्द्रमण्डल, पृथिवीमण्डल, सूर्यमण्डल, परमेष्ठिमण्डल एवं स्वायम्भुवमण्डल। उक्त मण्डल क्रमशः उत्तरोत्तर मण्डल के गिर्द मण्डलाकार वृत्त में परिभ्रमण कर रहे हैं। उदाहरण के रूप में चन्द्र मण्डल पृथिवी मण्डल के गिर्द; पृथिवी मण्डल सूर्य मण्डल के, सूर्यमण्डल परमेष्ठी मण्डल (आकाश गंगा का केन्द्र) के एवं परमेष्ठी मण्डल (आकाश गंगाएँ) स्वायम्भुव मण्डल का परिभ्रमण कर रहे हैं। यह परिभ्रमण क्रम ही काल खण्डों का जनक है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। वस्तुतः सूर्यमण्डल द्वारा परमेष्ठी मण्डल का परिभ्रमण ही जगत्क्रम, पृथिवी का ध्रुवता एवं दिशाक्रम के परिवर्तन का कारण है।

आधुनिक अनुमान के अनुसार सूर्य २५० कि० मी० प्रति सैकेण्ड की गति से परमेष्ठी मण्डल (Galactic Centre) का परिभ्रमण २,००,००,००० खरब कि० मी० लम्बे परिक्रमा पथ पर लगभग २५ से २७ करोड़ वर्ष में पूरा करता

है, परन्तु प्राचीन भारतीय गणना के अनुसार इसे ३० करोड़ के लगभग समय लगता है। परिभ्रमण काल के सन्दर्भ में आधुनिक वैज्ञानिकों एवं प्राचीन हिन्दुओं में मतभेद को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्राचीन हिन्दुओं को आधुनिक वैज्ञानिकों की अपेक्षा आकाश गंगा के ज्यादा विस्तृत परिमाप का ज्ञान था। परिभ्रमण के इस काल को एक मनु या मन्वन्तर कहा जाता है। यह मन्वन्तर काल ७१ महायुग काल + एक सत्ययुगकाल के समकक्ष है। क्योंकि यह मन्वन्तर काल ७१ महायुगों के पूर्णमान से एक सत्ययुगमान अधिक है। सूर्य परिभ्रमण के ७१ महायुग के पूर्णमान से इस अधिक रहने वाले सत्ययुगमान को मन्वन्तर की मनुसन्धि कहा जाता है। वस्तुतः एक मन्वन्तर में सत्ययुग का यह समय जगत्क्रम के विपर्यय में सन्धिकाल का कार्य करता है। सूर्यसिद्धान्त (१.१८) के अनुसार यह काल मन्वन्तर का जलप्लावन काल है।

मन्वन्तरों के नामकरण का आधार

मन्वन्तर मान का ज्ञान होने के उपरान्त मन्वन्तरों का नामकरण किस आधार पर हुआ यह जिज्ञासा का विषय है। प्रायः विद्वानों का मत रहता है कि विभिन्न मन्वन्तर ब्रह्मण्डीय उत्पत्ति प्रक्रिया की विभिन्न सोपानों के परिचायक हैं। परन्तु यह भ्रम मात्र है। मन्वन्तर ब्रह्माण्डीय सृष्टि पर प्रकाश नहीं डालते, अपितु पृथिवी पर प्राणी सृष्टि एवं मानव की उपस्थिति का परिचय देते हैं। वस्तुतः विभिन्न सात मन्वन्तरों के नाम सात व्यक्ति विशेषों के आधार पर रखे गये जो उस अवधि के अधिकृत व्यक्ति थे। इस विषय में मनुस्मृति (१.६१) का मत सुस्पष्ट है। तदनुसार स्वायम्भुव मनु के समान ही अन्य छः महात्मा महान् ओजस्वी मनु हुए जिन्होंने अपने-अपने समय में प्रजाओं का सृजन एवं पालन किया।

स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड्वंश्याः मनवोऽपरे।

सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वाः महात्मनो महौजसः॥

स्वायम्भुव मनु के अतिरिक्त अन्य छः मनुओं के नामों का परिगणन करते हुए मनुस्मृतिकार कहता है–

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा।

चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च॥ (मनु० १.६२)

अर्थात् उन छः मनुओं के नाम हैं– स्वारोचिष, उत्तम, तामस रैवत, चाक्षुष तथा महातेजस्वी विवस्वान् के पुत्र वैवस्वत।

आगे पुनः स्पष्ट किया गया है कि स्वायम्भुव आदि इन सात महान् तेज वाले मनुओं ने अपने-अपने अधिकृत काल में उत्पन्न होकर समस्त चराचर सृष्टि की रक्षा की।

स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः।

स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम्॥ (मनु० १.६३)

इस प्रकार उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रस्तुत कल्प के प्रारम्भ से ही मानव जीवन की स्थिति इस पृथिवी पर थी। तथा विभिन्न मन्वन्तरों का नामकरण भी तत्-तत् कालावाधि में उत्पन्न अधिकृत व्यक्ति विशेषों के आधार पर किया गया जिन्होंने सम्बन्धित मन्वन्तरों में प्राणी एवं मानव जीवन के संचालन में महान् योगदान दिया।

१२

कल्पमान

मन्वन्तर मान से भी अधिकतम सीमा वाला कालखण्ड कल्प के नाम से परिगणित किया गया है। वस्तुतः कल्पमान परमेष्ठी मण्डल के स्वायम्भुव मण्डल के गिर्द परिभ्रमण काल का परिचायक है। परमेष्ठी मण्डल को स्वायम्भुव मण्डल के गिर्द एक चक्कर पूरा करने में ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष का समय लग जाता है। यह समय १००० महायुगों अथवा यूं कहिए कि १४ मन्वन्तर + एक सत्ययुग के बराबर होता है। (नोटः मन्वन्तरमान, जैसा कि पूर्व अध्याय ११ में स्पष्ट किया जा चुका है ७१ महायुग +एक सत्ययुग के बराबर होता है।) एक कल्प में १४ मन्वन्तर के पूर्णमान से एक सत्ययुग के बराबर लगने वाला अधिक समय दो कल्पों के मध्य का सन्धि काल माना जा सकता है।

अथर्ववेद के निम्न मंत्र में उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि की गई है—

शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।

इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनुमन्यन्तामहृणीयमानाः॥

उपर्युक्त मंत्र में १०० अयुत के आगे २, ३, ४ की संख्या लिखने का उल्लेख किया है। अयुत दस हजार का होता है। सौ अयुत दस लाख का हो जाएगा। उसके आगे **अंकानां वामतो गतिः** के सिद्धान्त पर ४, ३, २ लिखने से कल्प की वर्षावधि घटित हो जाएगी। जो निम्न प्रकार होगी— ४,३२,००,००,००० । यह विश्वदेवों (Galaxies) के परिभ्रमण काल का द्योतक है।

यह समय एक ब्रह्मदिन कहलाता है। इतना ही समय ब्रह्मा की रात्रि कहलाती है। इस प्रकार दो कल्प मिलकर ब्रह्मा का एक अहोरात्र कहलाता है जो कि ८६४ करोड़ वर्षों के बराबर है। ऐसे ३६० दिन अर्थात् ८६४ x ३६० = ३१,१०,४०,००,००,००० वर्ष ब्रह्मा का एक वर्ष कहलाता है। ब्रह्मा की सम्पूर्ण आयु १०० ब्राह्म वर्ष अर्थात् ३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्ष है। यह आकाश गंगाओं की आयु का काल है जो कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की आयु है। पहले ५० ब्राह्म वर्षों को प्रथम परार्द्ध कहते हैं तथा अन्तिम ५० ब्राह्म वर्षों को द्वितीय परार्द्ध के नाम से जाना जाता है।

विष्णुपुराण में स्पष्टतया प्रतिपादित किया गया है कि ४ अरब ३२ करोड़ वर्षों में नैमित्तिक प्रलय होता है। नैमित्तिक प्रलय का जैसा विवरण पुराण में उपलब्ध है उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इतने वर्षों में पृथिवी वसुन्धरा नहीं रहती। तथा १२ आदित्य अर्थात् १२ राशियों के अन्तर्गत सूर्य की Ultraviolet किरणें पृथिवी को भयंकर रूप से संतप्त कर देंगी तथा भूमि का जल सर्वथा समाप्त हो जायेगा एवं इसकी स्थिति चन्द्रमा, बुद्ध एवं शुक्र की भाँति सर्वथा बंजर ग्रह की तरह हो जायेगी। तब इस ग्रह से प्राणी जीवन स्थानान्तरित होकर जनलोक में अर्थात् बृहस्पति ग्रह पर चला जाएगा। जिसमें उस समय तक वसुओं को धारण करने की क्षमता आ जायेगी। इस प्रकार भारतीय ऋषि प्रज्ञा ने काल की न्यूनतम से लेकर अधिकतम सम्भावित सीमाओं को सुनिश्चित किया। यह कोई सरल कार्य नहीं है। काल की सीमा का उपर्युक्त दृष्टि से निर्धारण किसी भी सभ्यता के वैज्ञानिक विकास की पराकाष्ठा का द्योतक है।

१३

सृष्टि के आदि से लेकर वर्तमान-पर्यन्त कालस्थिति का परिगणन

वर्तमान काल स्थिति का ज्ञान वर्तमान समय में पढ़े जाने वाले संकल्प से होता है, जो कि इस प्रकार है—

अद्य ब्रह्मणो द्वितीये परार्द्धे श्वेतवाराहकल्पे सप्तमे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमे चरणे ५०९८ गताब्दे

उपर्युक्त संकल्प पाठ काल की द्वि-विध गणना को प्रस्तुत करता है । इसके प्रथम भाग में प्रस्तुत ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से प्रारम्भ कर वर्तमान पर्यन्त व्यतीत हुए काल का परिगणन किया गया है । तदनुसार वर्तमान समय में ब्रह्मा के द्वितीय परार्द्ध का प्रथम दिन, जिसको श्वेत वाराह कल्प कहते हैं, चल रहा है । ब्रह्मा की आयु १०० वर्ष की होती है, जो कि वर्तमान ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण आयु मानी गई है । उक्त गणना बताती है कि ब्रह्मा की आयु का प्रथम परार्द्ध अर्थात् ५० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं । जिसका अभिप्राय है कि प्रस्तुत ब्रह्माण्डीय उत्पत्ति के लगभग १,५७,१७,२९,४९,०९८ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं । तथा यह ब्रह्माण्डीय उत्पत्ति अब ५१वें वर्ष जिसको श्वेत वाराह कल्प कहते हैं, में प्रवेश कर चुकी है । उपर्युक्त संकल्पपाठ के द्वितीय भाग में वर्तमान कल्प अर्थात् पृथिवी पर प्राणी सृष्टि के आरम्भ को परिगणित किया गया है । तदनुसार प्रस्तुत कल्प के भी छः मन्वन्तर— स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष— बीत चुके है । वर्तमान में सातवाँ वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है । सातवें मनु के भी २७ महायुग बीत चुके है । २८वें महायुग के सत्ययुग, त्रेतायुग तथा द्वापर युग भी बीत चुके हैं । ३१०२ ईसा पूर्व बीस फरवरी को कलियुग का आरम्भ हो चुका है । वर्तमान में कलियुग का ५०९९ वाँ वर्ष अर्थात् ५१वीं शताब्दी का अन्त चल रहा है । इस प्रकार से कलियुग के भी ८२ संवत्सर चक्र (६० वर्षों का एक संवत्सर चक्र) बीत चुके हैं । ८५वाँ संवत्सर चक्र ईसवी १९३९ में प्रारम्भ होकर १९९८ ईसवी में समाप्त होने वाला है । अतः ८५वें संवत्सर चक्र का अंतिम भाग चल रहा है । इसके प्रथम भाग अर्थात् ईसवी १९३९ से लेकर ईसवी १९५० तक का इतिहास इस

समय हम भारतीय इतिहास संकलन योजना के अंतर्गत लिखने जा रहे है । दूसरी तरफ इस सृष्टि चक्र की आयु के कलियुग की ५१वीं शताब्दी का अन्त ईसवी १९९८ में हो जायेगा । तत्पश्चात यह ब्रह्माण्डीय सृष्टि एवं पृथिवी पर प्राणि सृष्टि कलियुग की ५२ वीं शताब्दी में प्रविष्ट हो जायेगी ।

१४

सप्तर्षि संवत्

जैसा कि नाम से स्पष्ट हो जाता है, सप्तर्षि सात तारों के समूह का नाम है। सप्तर्षियों का भारतीय संस्कृति में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः ऋषि शब्द अधिदैविक अर्थ में प्रकाशमान तारे का वाचक है। यास्कीय निरुक्ति **'ऋषिदर्शनात्'** अधिदैविक अर्थ में भी उतनी ही सार्थक हैं जितनी की आध्यात्मिक अर्थ में। सप्तर्षि प्रकाशमान तारक पुञ्ज है जो आदिसृष्टि से ही वैदिक ऋषियों के ध्यान का केन्द्र रहा है। आदिसृष्टि में उत्पन्न होने वाले सात ऋषियों के नाम के आधार पर सप्तर्षियों का नामकरण किया गया। वस्तुतः ये ऋषि प्रवर सप्तर्षि विज्ञान के अवगन्ता थे। इन सात ऋषियों के नाम थे मरीचि, वसिष्ठ, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह तथा क्रतु। वसिष्ठ की पत्नी अरुन्धती के आधार पर वसिष्ठ के साथ संयुक्त एक तारा का नाम अरुन्धती रखा गया। जैसा निम्न चित्र से ज्ञात होता है—
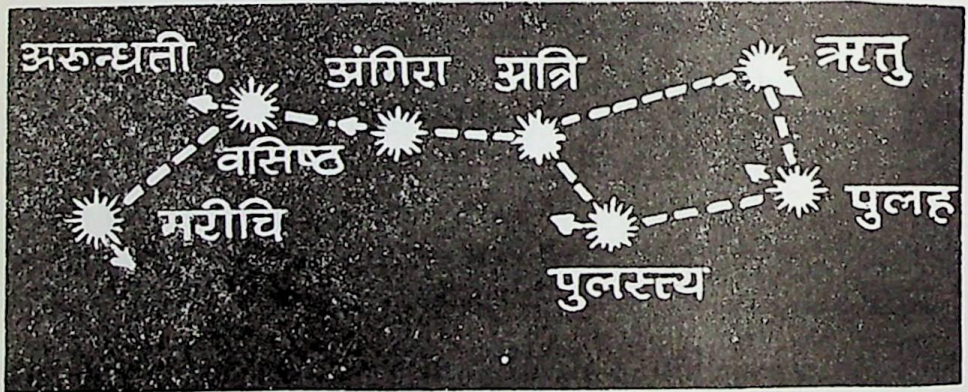
इस प्रकार उक्त सात नाम ऐतिहासिक ऋषियों के ही थे जो कि कालान्तर में तारों के साथ संयुक्त किये गये। यही कारण है कि पुराणों एवं अन्य वैदिक ग्रन्थों में यत्र-तत्र उद्धृत तारों का आधिदैविक स्वरूप ऐतिहासिक व्यक्तियों के साथ मिश्रित होकर भयानक भ्रान्तियों को जन्म देता रहा है। उक्त सात ऋषि ही आदि सृष्टि के सात गोत्रों के प्रवर्तक 'प्रवर' माने जाते हैं। इन सात गोत्र प्रवरों

से ही कालान्तर में सहस्रों गोत्रों का विकास हुआ। इन सात तारों के नामकरण के विषय में वराहमिहिर की वृहत्संहिता में भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है। तदनुसार भी इनका नामकरण एवं क्रम उपरि निर्दिष्ट चित्र की भाँति ही है, यथा–

पूर्वे भागे भगवान् मरीचिपरे स्थितो वसिष्ठोऽस्मात्।
तस्याङ्गिरास्ततोऽत्रिस्तस्यासन्नः पुलस्त्यश्च।
पुलहः क्रतुरिति भगवानासन्ना अनुक्रमेण पूर्वाद्यात्।
तत्र वसिष्ठं मुनिवरमुपाश्रितारुन्धती साध्वी॥ १३.५-६

अर्थात् पूर्वी भाग में मरीचि सबसे प्रथम स्थित है उनके बाद वसिष्ठ, तदुपरान्त अङ्गिरा, तत्पश्चात् अत्रि उसके निकट पुलस्त्य स्थित है पुलह तथा क्रतु पुलस्त्य के निकटवर्ती है। वहीं वसिष्ठ के साथ साध्वी अरुन्धती संयुक्त है। इनका सम्पूर्ण विवरण उपरिनिर्दिष्ट चित्र से भी स्पष्ट हो जाता है।

सप्तर्षि संवत्

जैसा कि पूर्वत्र भी स्पष्ट किया जा चुका है भारतीय कालगणना विभिन्न ग्रहों नक्षत्रों की गति पर आधारित पूर्णतया खगोल परक है भारत में आविष्कृत अनेक-विध कालगणनाओं में सप्तर्षि कालगणना का भी वैशिष्ट्यपूर्ण स्थान है। सप्तर्षि कालगणना सप्तर्षियों की विभिन्न नक्षत्रों के सापेक्ष गति पर आधारित है। सप्तर्षियों की गति के आधार पर की जाने वाली कालगणना को सप्तर्षि संवत् कहते हैं। इसके कुछ अन्य नाम भी उपलब्ध होते हैं यथा— देवसंवत्, नक्षत्र संवत्, शास्त्रसंवत्, लौकिक संवत् तथा पहाड़ी संवत् आदि।

सप्तर्षि एक-एक नक्षत्र में १००-१०० वर्ष निवास करते हैं।

सप्तर्षयस्तु तिष्ठन्ति पर्यायेण शतं शतम्।
एकैकस्मिन्नृक्षे शतं शतं ते चरन्ति वर्षाणाम्॥ वृहत्सं० १३.४

नक्षत्र २७ हैं। अतः सप्तर्षियों का एक चक्र २७०० वर्षों के लगभग होता है। इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि सप्तर्षियों का एक वर्ष मनुष्यों के २७०० वर्षों के तुल्य होता है।

कलियुग राज वृत्तान्त (श्लोक १४) के अनुसार वर्तमान कलियुग के आरम्भ से ७५ वर्ष पूर्व अर्थात् ३१७७ खिस्ताब्द पूर्व अर्थात् ५१७४ वर्ष पूर्व सप्तर्षि मघा नक्षत्र में प्रविष्ट हुए थे तथा कलियुग के आरम्भ होने के समय अर्थात् ३१०२ खिस्ताब्द पूर्व सप्तर्षि मघा ७५ में विद्यमान थे तथा मघा नक्षत्र में उनकी स्थिति के २५ वर्ष शेष थे। वर्तमान समय में सप्तर्षि आर्द्रा ७५ में है। स्पष्ट है कि

सप्तर्षि कलियुगारम्भ से वर्तमान समय तक २७०० + २३९९ = ५०९९ वर्ष व्यतीत कर चुके हैं । वर्तमान कलि संवत भी ५०९९ है जो कि उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि करता है ।

वराहमिहिर की वृहत्संहिता की एक अन्य सूचनानुसार भी युधिष्ठिर के राज्यकाल में सप्तर्षि मघा नक्षत्र में थे तथा उस समय से वराहमिहिर के काल तक २५२६ वर्ष व्यतीत हो चुके थे अथवा कह सकते हैं कि युधिष्ठिर शकसंवत् का २५२७वाँ वर्ष चल रहा था ।

आसन् मघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ
षड्द्विक पञ्च द्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञश्च ।। १३.३

उक्त सूचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि वराहमिहिर का स्थिति काल ३१७७-२५१६ = ६५१ खिस्ताब्द पूर्व के आस-पास था ।

सप्तर्षि संवत् के दो सम्प्रदाय

सप्तर्षि संवत् का प्रचलन दो सम्प्रदायों में है । प्रथम है पटना सम्प्रदाय तथा द्वितीय है कश्मीर सम्प्रदाय । पटना सम्प्रदाय सप्तर्षि संवत् का प्रारम्भ रेवती नक्षत्र से मानता है तथा कश्मीर सम्प्रदाय रोहिणी से । रेवती एवं रोहिणी के बीच चार नक्षत्र आते हैं अर्थात् रोहिणी रेवती से पाचवें स्थान पर स्थित है । अतः स्पष्टतया कश्मीर सम्प्रदायानुसारी संवत् पटना सम्प्रदायानुसारी संवत् से ४०० वर्ष (एक नक्षत्र में सप्तर्षि १०० वर्ष लगाता है) छोटा है । वस्तुतः यह अन्तर ४०० वर्ष का न होकर ४०५ वर्ष का है । उपर्युक्त ४०५ वर्ष का अन्तर विभिन्न पुराण पाठों मं उद्धृत नन्दाभिषेक के समय के आधार पर स्थिर किया जा सकता है । यथा स्कन्द पुराणानुसार नन्दाभिषेक का समय ६१० तथा अन्य पुराण पाठ के अनुसार १०१५ है । स्पष्टतया स्कन्द पाठ कश्मीर सम्प्रदायानुसारी है तथा अन्य पटना सम्प्रदायानुसारी है । दोनों में ४०५ वर्ष का ही अन्तर है । पांच वर्ष का यह अन्तर सप्तर्षि समूह के योग तारे की मान्यता पर निर्भर करता है ।

उपर्युक्त अन्तर को दृष्टिगत रखकर कहा जा सकता है कि पटना सम्प्रदायानुसारी सप्तर्षि संवत् ४०५ की संख्या घटाने पर कश्मीर सम्प्रदायानुसारी संवत् में परिवर्तित किया जा सकता है । उसी प्रकार ४०५ की संख्या जोड़ने पर कश्मीर सम्प्रदायानुसारी संवत् का परिवर्तन पटना सम्प्रदायानुसारी संवत् में सम्भव है ।

वस्तुत सप्तर्षि कालगणना के पक्षधर दोनो ही सम्प्रदायों में भेद होते हुए भी मूलतः अभेद है। सतही तौर पर देखने से लगता है कि दोनों में ४०५ वर्षों का अन्तर है, परन्तु वास्तव में यह अन्तर दोनों सम्प्रदायों में सप्तर्षि संचरण विषयक मान्यता भेद के कारण है। जैसा कि पूर्वत्र भी स्पष्ट किया जा चुका है कश्मीर सम्प्रदाय रोहिणी नक्षत्र को सप्तर्षियों के संचरण का आरम्भ बिन्दु मानता है। दूसरी तरफ पटना सम्प्रदाय रेवती को सप्तर्षियों के भगणारम्भ का बिन्दु मानता है। रेवती से रोहिणी चार नक्षत्र अतीत है। चार नक्षत्रों के ४०० वर्ष होते हैं। अतः अन्तर भी ४०० अथवा ४०५ वर्षों का ही है।

उपर्युक्त सम्प्रदायों के परिप्रेक्ष्य में कलियुगारम्भ के समय अर्थात् ३१०२ ख्रिस्ताब्द पूर्व के सप्तर्षि संवतों को निकाला जा सकता है तदनुसार कलियुग के आरम्भ के समय पटना सम्प्रदाय का सप्तर्षि संवत् १०७६ तथा कश्मीर सम्प्रदाय का सप्तर्षि संवत् ६७१ चल रहा था।

राजतरंगिणी के लेखक कल्हण के अनुसार सप्तर्षि संवत् ६२८ में भारत संग्राम हुआ था। कल्हण कश्मीरी था। अतः यह गणना कश्मीरी संवत् के अनुसार होगी। कलियुग के आरम्भ में अर्थात् ३१०२ ख्रिस्ताब्द पूर्व कश्मीरी संवत् ६७१ प्रवर्तमान था। तदनुसार भारत युद्ध का समय कलियुगारम्भ से ६७१-६२८=४३ वर्ष पूर्व का आता है। उक्त आधार पर हम कह सकते हैं कि भारत संग्राम ३१०२ +४३ =३१४५ ख्रिस्ताब्द पूर्व अर्थात् ५०९९ +४३ =५१४२ वर्ष पूर्व हुआ था।

एक अन्य पुराण पाठ के अनुसार परीक्षित के जन्म के १०१५ वर्ष के अनन्तर नन्द का राज्याभिषेक हुआ था।

यावत् परीक्षितो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम्।

एतत् वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पंचदशोत्तरम्॥

उपर्युक्त पुराण पाठ परीक्षित के बाद १०१५वें संवत् में नन्द के राज्याभिषेक का निर्देश करता है। परीक्षित का काल महाभारत युद्ध कालीन है जो कि पटना सम्प्रदायानुसार ६२८ + ४०५ = १०३३ संवत् में हुआ था।यह ३१४५ ख्रिस्ताब्द पूर्व था। संवत् १०१५ परीक्षित के जन्म से (१०३३- १०१५ =) १८ वर्ष पूर्व अर्थात् ३११५ + १८ = ३१६३ ख्रिस्ताब्द पूर्व प्रचलित था। परीक्षित के जन्म के बाद संवत् १०१५ का पुनः प्रवर्तन २७०० वर्षों के बाद हो

सकेगा। उक्त तथ्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि नन्दाभिषेक का समय ३१६३- २७०० = ४६३ ख्रिस्ताब्द पूर्व था।

दूसरी तरफ स्कन्द पुराणानुसार संवत् ६१० में नन्द का राज्याभिषेक हुआ था। उक्त आधार पर भी नन्द के अभिषेक का समय ६२८-६१० = १८ + ३१४५ = ३१६३-२७०० = ४६३ ख्रिस्ताब्द पूर्व ही आता है।

उपर्युक्त विवरण से सप्तर्षियों, सप्तर्षि संवत् तथा विभिन्न घटनाओं के काल निर्धारण में उनके महत्त्वपूर्ण योगदान पर भरपूर प्रकाश पड़ता है।

यहाँ पर यह उल्लेख करना आवश्यक होगा कि सप्तर्षि संवत् का प्रयोग पुराण परम्परा में अत्यधिकतया हुआ है।

१५

नक्षत्र एवं राशियाँ

वैदिक ऋषियों ने सृष्टि के प्रारम्भ में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अध्ययन कर ज्ञात किया कि यह सम्पूर्ण अण्डाकार लोक दो प्रकार के पिण्डों से व्याप्त है। पहली प्रकार के पिण्ड वे हैं जिनका अपना प्रकाश होता है अतः जो चमकते हैं। इन पिण्ड समूहों को द्यु कहा गया। **द्युः द्योतनात् द्युस्थानो भवतीति वा**। अर्थात् जो प्रकाशमान है या फिर प्रकाशमान स्थान में स्थित है। दूसरी प्रकार के ऐसे पिण्ड हैं जिनका अपना कोई प्रकाश नहीं है, उन्हें पृथिवी कहते हैं। सम्पूर्ण दृश्य जगत् द्यु पिण्डों एवं पृथिवी पिण्डों का समूह है। अतएव दृश्य संरचना का संयुक्त नामकरण द्यावापृथिवी किया गया। द्यावापृथिवी का वेदों में बार-बार उल्लेख आता है। द्यावापृथिवी का दूसरा नामकरण रोदसी भी किया गया।

नक्षत्र भी प्रकाशमान द्युपिण्ड हैं जो कि पृथिवी एवं चन्द्र के परिक्रमा पथ की परिधि में विद्यमान हैं। वस्तुतः नक्षत्रों की वास्तविक पहचान चन्द्रमा से होती है क्योंकि चन्द्रमा प्रतिदिन एक विशेष तारों के समूह के सामने से गुजरता है। इस प्रकार अपने २७ दिन ७ घण्टे के परिक्रमण काल में चन्द्रमा अनेक तारों से होकर गुजरता है पुनः २८वें दिन प्रथम तारे के सामने आ जाता है। यही कारण है कि चन्द्रमा को नक्षत्रों का स्वामी कहा जाता है। ऋग्वैदिक ऋषि स्पष्ट कहता है कि द्युलोक में सोम अर्थात् चन्द्रमा का निवास है।

दिवि सोमो अधिश्रितः– ऋ. १०.८५

अगले ही मन्त्र में पुनः बताया गया है कि चन्द्रमा से ही आदित्य की शक्ति एवं पृथिवी का महत्त्व ज्ञात होता है यह चन्द्रमा नक्षत्रों के बीच स्थापित है।

सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।

अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥ ऋ. १०.८५.२

इस प्रकार अपने २७ दिन के परिक्रमण काल में चन्द्रमा प्रतिदिन जिन-जिन द्युपिण्डों अर्थात् तारों को पार करता है, उनमें से अधिक प्रकाशमान तारों की पहचान की गई। कालान्तर में एक दिन में चन्द्रमा के सामने से गुजरने वाले सभी तारों को मिलाकर एक नक्षत्र संज्ञा की गई। तथा अधिक प्रकाशमान तारे को उस

नक्षत्र का योगतारा कहा गया। पूरे परिक्रमा पथ के साथ-साथ योगतारों सहित ऐसे २१८ तारों की पहचान की गई जिन्हें एक-एक दिन के परिक्रमण के आधार पर २७ नक्षत्रों में विभाजित किया गया है।

प्रायः सभी नक्षत्र पृथिवी के २८$\frac{१}{२}$ अंश अक्षांश उत्तर या दक्षिण में स्थित हैं क्योंकि उन्हीं तारों की नक्षत्र के रूप में पहचान की गई जो कि पृथिवी तथा चन्द्रमा के कक्षा पथ में आते हैं। पृथिवी अपनी धुरी पर २३$\frac{१}{२}$ अंश झुकी है अतः उसका कक्षा पथ २३$\frac{१}{२}$ अंश अक्षांश उत्तर एवं दक्षिण को मिलाकर बनता है। दूसरी तरफ चन्द्रमा का झुकाव ५° के लगभग है। अतः उसका कक्षा पथ पृथिवी के २८$\frac{१}{२}$ अंश अक्षांश उत्तर एवं दक्षिण तक स्थित है। यही कारण है कि इन्हीं अक्षांशों के अन्तर्गत स्थित तारों के समूह की नक्षत्र के रूप में पहचान कि गई है।

नक्षत्रों के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न द्युपिण्डों अर्थात् तारों के सन्दर्भ में यह बता देना भी आवश्यक है कि वे सब स्थिर नहीं है। जैसी कि आम धारणा है सभी तारे, यहाँ तक की हमारा सूर्य भी, जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, परमेष्ठी मण्डल अर्थात् आकाश गंगा के केन्द्र के गिर्द चक्र लगा रहे हैं। हमारा सूर्य २५० कि० मी० प्रति सैकेण्ड के हिसाब से ३२ करोड़ वर्ष में एक चक्र पूरा करता है। उसी प्रकार से नक्षत्र मण्डल के अन्य तारे भी परमेष्ठी मण्डल के गिर्द घूम रहे हैं। परन्तु उनकी दूरी इतनी अधिक है कि उनकी गति का ज्ञान बहुत काल के बाद हो पाता है। हमारा सूर्य भी अपने पूरे ग्रह-परिवार के साथ अभिजित् नक्षत्र, जो कि ६१° ४२ अक्षांश उत्तर की ओर स्थित है, की ओर २० कि० मी० प्रति सैकेण्ड के हिसाब से आगे बढ़ रहा है।

इसी प्रकार अन्य नक्षत्र भी आज जिस स्थिति में हैं लाखों वर्ष बाद उस स्थिति में नहीं रहेंगे। आज से १५-२० हजार वर्ष पश्चात् का ज्योतिर्विद यदि आज के ज्योतिर्विद द्वारा बनाए गये आकाश के मानचित्र की अपने समय में बनाए गये आकाश के मानचित्र से तुलना करेगा तो बहुत अन्तर पायेगा। उदाहरण के रूप में नीचे सप्तर्षियों के आज उपलब्ध मानचित्र तथा तारों की गति के आधार पर १,००,००० वर्ष बाद एवं पूर्व की स्थिति को बताने वाले मानचित्र नीचे दिए जा रहे हैं, तुलना के आधार पर इनकी बदलने वाली स्थिति एवं तदनुसार उनकी परिवर्तित आकृति को आसानी से समझा जा सकता है।
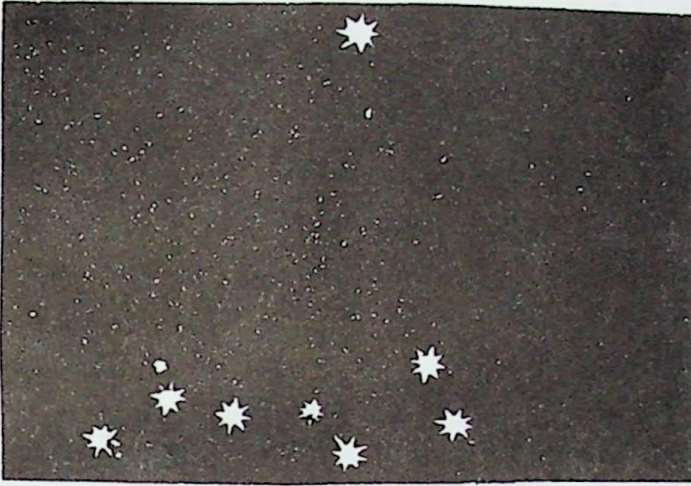
सप्तर्षियों की वर्तमान स्थिति
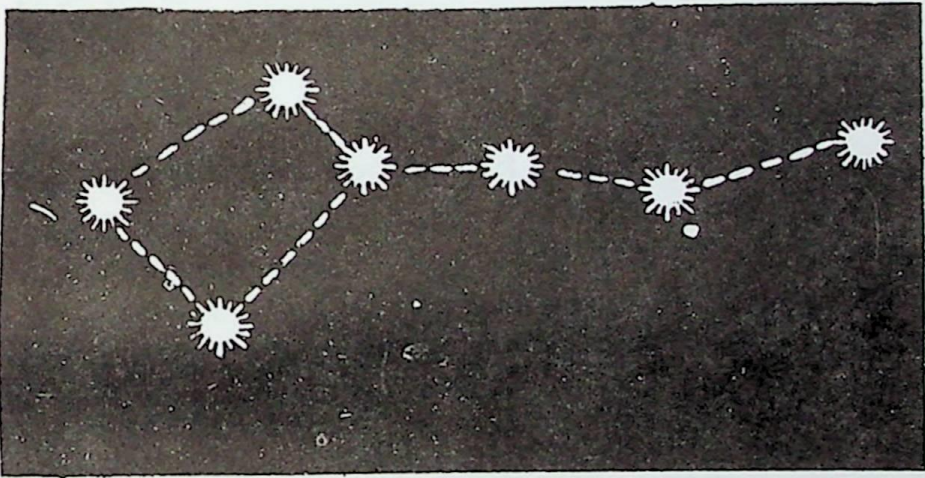
सप्तर्षियों की एक लाख वर्ष पूर्व की स्थिति
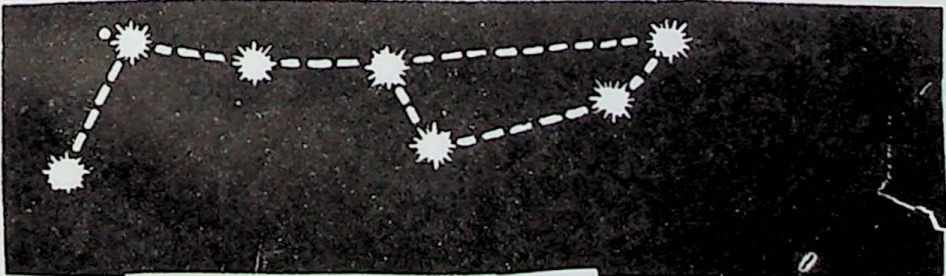
सप्तर्षियों की एक लाख वर्ष पश्चात् होने वाली स्थिति

उपर्युक्त तथ्य के परिप्रेक्ष्य में पुनः कहा जा सकता है कि लाखों वर्ष पूर्व नक्षत्रों एवं राशियों की जो स्थिति एवं आकृति थी वह आज नहीं है तथा लाखों वर्ष बाद जो स्थिति एवं आकृति होनी है वह आज से भिन्न होगी ।

यही कारण था कि वैदिक ऋषियों ने नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर बनने वाली आकृति विशेषों के आधार पर राशियों का नामकरण न करके उन्हें एक चक्र के १२ अरों की संज्ञा दी । कालान्तर में विदेशी ज्योतिर्विदो ने भारत से ज्योतिष की शिक्षा ग्रहण करके नक्षत्रों से बनने बाली आकृति के आधार पर इन राशियों को पहचानना प्रारम्भ किया । अतः आज उन्हें इसी रूप में जाना पहचाना जाता है । यहाँ पर यह जानना भी आवश्यक होगा कि उक्त गति के कारण ही नक्षत्रों की ध्रुवीय स्थिति (अर्थात् अक्षांश) एवं देशान्तर में परिवर्तन आता रहता है । यही कारण है कि भिन्न-भिन्न परम्पराओं में नक्षत्रों के भोग (अक्षांशीय स्थिति) एवँ शर (देशान्तरीय स्थिति) मानों में भिन्नता मिलती है । यह भिन्नता कोई मतभेद को प्रदर्शित नही करती प्रत्युत समय-समय पर किये गये तात्कालिक निरीक्षण को बताती है । उपलब्ध विभिन्न तारों के समूह का नामकरण भी उनकी स्थिति एवं आकृति के आधार पर ही किया गया है । अब हम विंभिन्न नक्षत्रों के तारों की संख्या तथा उनकी आकृति एवं स्थिति की जानकारी नीचे देते है ।

१. **अश्विनी** — अश्विनी नक्षत्र भूमध्य रेखा से ८° ३०′ उत्तर में स्थित है । इसमें मुख्यतया दो तारे हैं जिन्हें वैदिक साहित्य में अश्विनी कुमारों की संज्ञा दी गई । परन्तु ये दो तारे अपने सम्मुख स्थित तृतीय तारे को मिलाकर अश्वमुख जैसी आकृती बनाते हैं इसीलिये इन तीनों तारों के समूह का नामकरण अश्विनी किया गया ।

अश्विनी
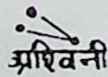
२. **भरणी** — पृथिवी के १०° २४′ अक्षांश उत्तर में स्थित तीन तारों का समूह तीनों मिलकर योनि की आकृति बनाते हैं । अतः इन का नाम भरणी रखा गया । इनका वैदिक नाम 'यम' है ।

३. **कृत्तिका** — छः तारों का समूह है जो कि भूमध्यरेखा ४° अक्षांश उत्तरी आकाश में स्थित है । ये छः तारे मिलकर अर्थात् कतरनी (कैंची) की आकृति बनाते हैं । इसीलिए इन्हें कृत्तिका कहते हैं । इनका प्राचीन नाम आग्नेय नक्षत्र भी था जो अग्नि से व्युत्पन्न है ।

कृत्तिका   कृत्तिका

४. **रोहिणी** — ५ तारों का समूह है । जो कि भूमध्यरेखा के ५°३०′ अक्षांश दक्षिण में स्थित है । ये सब मिलकर बैल गाड़ी (शकट) की आकृति बनाते प्रतीत होते हैं । अतः इन्हें रोहिणी कहा जाता है । इनका वैदिक नाम 'प्रजापति' अथवा 'ब्रह्मा' भी था ।

रोहिणी

५. **मृगशिरा** — ३ तारों का समूह है जो कि भूमध्य रेखा से १३°२४′ अक्षांश दक्षिण में स्थित है ये तीनों मिलकर मृग के शिर की आकृति बनाते हैं अतः इन्हें मृगशिरा कहा जाता है इनका प्राचीन नाम सौम्य था अर्थात् सोम सम्बन्धी ।

मृगशिरा

६. **आर्द्रा** — एक ही तारा है १६° अक्षांश दक्षिण में स्थित है । क्योंकि अकेला यह तारा मणि की आकृति बनाता है, इसे आर्द्रा कहा जाता है । वैदिक काल में इसे 'रुद्र' कहा जाता था ।

आर्द्रा

७. **पुनर्वसु** —४ तारों का समूह है जो कि ६° ४२′ अक्षांश उत्तर में स्थित है । ये चारों मिलकर वासतव्य स्थल (घर) की आकृति बनाते हैं, अतः इन्हें पुनर्वसु कहा गया है । वैदिक लोगों ने इन्हें 'अदिति' के नाम से पहचाना था ।

पुनर्वसु

८. **पुष्य** — तीन तारों का यह समूह ०°६′ अक्षांश उत्तरी आकाश में स्थित है। यह तीनों मिलकर बाणाकृति का सम्पादन करते हैं। पुष्य को बृहस्पति से सम्बन्धित माना जाता था। अतः इसे बार्हस्पत्य भी कहते थे।

पुष्य

९. **आश्लेषा** — पाँच तारों का यह समूह ५°६′ अक्षांश दक्षिण में श्लिष्ट होकर स्थित है अतः इन्हें आश्लेषा कहा जाता है। इनका अपर नाम सर्प भी है।

आश्लेषा
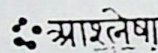
१०. **मघा** — पाँच तारों का यह समूह ०°३०′ अक्षांश उत्तर में स्थित है। इनकी आकृति भी भवन जैसी है। इन्हें पितरों से सम्बन्धित माना जाता है। अतः पित्र्य नाम भी इन्हें दिया गया है।
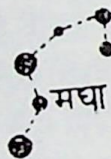
११. **पूर्वफाल्गुनी** — फाल्गुनी नामक दो-दो तारे हैं। जो क्रम में पहले आते हैं उन्हें पूर्व फाल्गुनी एवं जो क्रम में बाद में आते हैं उन्हें उत्तर फाल्गुनी कहते हैं। इनका नामकरण फाल्गुनी इसलिये किया गया कि ये फाल्गुन 'मंच' की आकृति बनाते हैं। पूर्व फाल्गुनी ९°१८′ अक्षांश उत्तर में स्थित है। वैदिक युग में यह 'भग' के नाम से विख्यात था।

उत्तर फाल्गुनी पूर्व फाल्गुनी
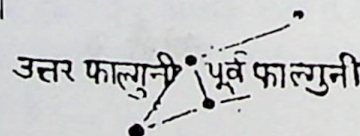
१२. **उत्तरफाल्गुनी** — १२°१८′ अक्षांश उत्तर में स्थित है। वैदिक लोग इसे अर्यमा अथवा धाता कहते थे।

१३. **हस्त** — ५ तारों का समूह है जो कि १२° १२′ अक्षांश दक्षिण में स्थित है। ये सब मिलकर हाथ की आकृति बनाते हैं अतः इन्हें हस्त कहा जाता है। इसे वैदिक युग में 'सविता' कहा जाता था।

हस्त
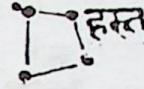
१४. **चित्रा** — चित्रा भी एक तारा है जो कि २° अक्षांश दक्षिण में स्थित है। इसकी आकृति मोती जैसी रंगीन है अतः इसे चित्रा के नाम से जाना जाता है। इसे वैदिक लोग 'त्वष्टा' के नाम से जानते थे।

चित्रा

१५. **स्वाति** — भी एक तारा है जो कि ३०° ४८′ अक्षांश उत्तर की ओर स्थित है उसकी आकृति मूंगे जैसी है। वैदिक काल में यह 'वायु' देवता के नाम से विख्यात था।

स्वाती

१६. **विशाखा** — यह चार तारों का समूह है जो कि १° ४८′ अक्षांश उत्तर में स्थित है। ये तारे तोरण की आकृति बनाते हैं। अतः इन्हें विशाखा कहते हैं। वैदिक लोग इस नक्षत्र को 'इन्द्राग्नी' कह कर पुकारते थे।

विशाखा
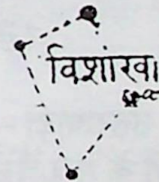
१७. **अनुराधा** — यह भी २° अक्षांश उत्तर में स्थित चार तारों का समूह है। इसे मित्र देवता का प्रतिनिधि माना जाता है। अतः इसकी मैत्र संज्ञा भी है।
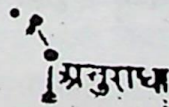
१८. **ज्येष्ठा** — तीन तारों का यह समूह ४° ३६′ अक्षांश दक्षिण में स्थित है । इस नक्षत्र का मूख्य तारा वृश्चिक राशि के अन्य नक्षत्र तारों से बड़ा है अतः इसकी ज्येष्ठ संज्ञा की गई है । इन नक्षत्र को 'इन्द्र' के नाम से जाना जाता था वैदिक काल में ।

ज्येष्ठा
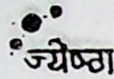
१९. **मूल** — यह ग्यारह तारों का समूह है जो कि ६° ३६′ अक्षांश दक्षिण में स्थित है । इस नक्षत्र का मुख्यतारा वृश्चिक राशि के मूल अर्थात् पुच्छ भाग में स्थित है । अतः इस नक्षत्र की मूल संज्ञा की गई है । वैदिक लोगों ने इसकी संज्ञा 'निर्ऋति' की थी ।

मूल
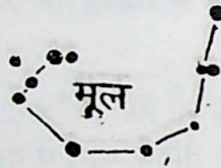
२०. **पूर्वाषाढ़ा** — आषाढ़ा भी २-२ तारों के दो नक्षत्र हैं जो कि दक्षिणी गोल में स्थित है । उनमें से दक्षिण की ओर से जो पहले स्थित है उसे पूर्वाषाढ़ा तथा जो बाद में आता है उसे उत्तराषाढ़ा कहते हैं । पूर्वाषाढ़ा की अक्षांशीय स्थिति ६° ३०′ अक्षांश दक्षिण है । इन दो तारों की हाथीदाँत की आकृति बनाते देखा जाता है । वैदिक काल में इसे 'आपः' कहा गया ।

उत्तर आषाढ पूर्व
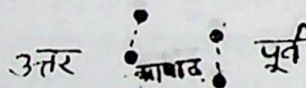
२१. **उत्तराषाढ़ा** — यह ३° ३०′ अक्षांश दक्षिण में स्थित है इसकी आकृति पूर्वफाल्गुनी के मंच जैसी है । वेदों में 'विश्वेदेवाः' के नाम से इसकी प्रसिद्धि थी ।

२२. **श्रवण** — २९° १८′ अक्षांश उत्तर में स्थित तीन तारों का समूह श्रवण कहलाता है । यह मकर राशि में मकर (मगरमच्छ) के श्रवणस्थान पर स्थित है अतः इसे श्रवण कहते हैं । वैदिक लोग इसे 'विष्णु' कहकर पुकारते थे ।

श्रवण

२३. **धनिष्ठा** — इसे श्रविष्ठा भी कहते हैं। यह चार तारों का समूह है जो कि ३३° अक्षांश उत्तर में स्थित है। ये सब मिलकर मृदङ्ग जैसी आकृति बनाते प्रतीत होते हैं। यह नक्षत्र वैदिक काल में 'वसु' संज्ञक था।
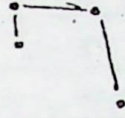
२४. **शतभिषक्** — यह १०० तारों का वृत्ताकार समूह है जो कि ०°२४′ अक्षांश दक्षिण में स्थित है। इसका वैदिक नाम 'वरुण' है।

२५. **पूर्वभाद्रपद**— भाद्रपद भी क्रमशः दो-दो तारों के समूह है जो कि उत्तरीखगोल में स्थित है। उत्तर की ओर प्रथमस्थित तारकद्वय पूर्वभाद्रपद एवं दूसरे नम्बर आने वाले तारकद्वय उत्तरभाद्रपद कहलाते हैं। वैदिक लोग इसे 'अज-एकपात्' कहकर पुकारते थे।

उत्तर भाद्रपद पूर्व भाद्रपद
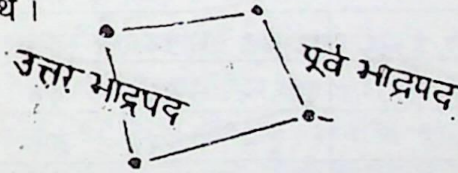
२६. **उत्तरभाद्रपद**—१९°२४′ अक्षांश उत्तर में है। इनकी आकृति भी मंच जैसी है। इसे 'अहिर्बुध्न्य' नाम से जाना जाता था।

२७. **रेवती** — यह ३२ तारों का समूह है जोकि ३°६′ अक्षांश दक्षिण में स्थित हैं। ये सब तारे मिल कर भाले की आकृति बनाते हैं। इनका नामकरण रेवती किया गया है। इस नक्षत्र का वैदिक नाम पूषा था।

रेवती
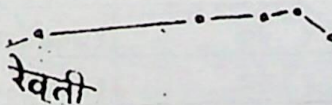
इस प्रकार से ३६०° अर्थात् २१६००′ के परिक्रमा पथ पर २७ नक्षत्र स्थित है। इन्हें समान दूरी पर स्थित माना गया है। अतः प्रत्येक नक्षत्र एक दूसरे से १३°३३′ दूरी पर स्थित माना गया है। नक्षत्र गणना अश्विनी से प्रारम्भ की जाती है अतः ३६०° के वृत्त पर अश्विनी का ध्रुवीय देशान्तर १३°३३′ तक होगा। सब नक्षत्रों के ध्रुवीय देशान्तर जिन्हें भोगांश कहा जाता है निम्न होंगे।

अश्विनी	०° से १३-३° तक अथवा	०-८००'
भरणी	१३ से २६-६° तक	८००'-१६००'
कृत्तिका	२६-३०° से ३९-३° तक	१६००'-२४००'
रोहिणी	३९-९° से ५२-२° तक	२४००'-३२००'
मृगशिरा	५२-२° से ६६-५° तक	३२००'-४०००'
आर्द्रा	६६-५° से ७९-८° तक	४०००'-४८००'
पुनर्वसू	७९-८° से ९३-१° तक	४८००'-५६००'
पुष्य	९३-१° से १०६-४° तक	५६००'-६४००'
आश्लेषा	१०६-४° से ११९-७° तक	६४००'-७२००'
मघा	११९-७° से १३३° तक	७२००'-८०००'
पू० फाल्गुनी	१३३° से १४६-३° तक	८०००'-८८००'
उ० फाल्गुनी	१४६-३° से १५९-६° तक	८८००'-९६००'
हस्त	१५९-६° से १७२-९° तक	९६००'-१०४०००'
चित्रा	१७२-९° से १८६-२° तक	१०४००'-११२००'
स्वाति	१८६-२° से १९९-५° तक	११२००'-१२०००'
विशाखा	१९९-५° से २१२-८° तक	१२०००'-१२८००'
अनुराधा	२१२-८° से २२६-१° तक	१२८००'-१३६००'
ज्येष्ठ	२२६-१° से २३९-४° तक	१३६००'-१४४००'
मूल	२३९-४° से २५२-७° तक	१४४००'-१५२००'
पूर्वाषाढ़ा	२५२-७° से २६६° तक	१५२००'-१६०००'
उत्तराषाढ़ा	२६६° से २७९-३° तक	१६०००'-१६८००'
श्रवण	२७९-३° से २९२-६° तक	१६८००'-१७६००'
घनिष्ठा	२९२-६° से ३०५-९° तक	१७६००'-१८४००'
शतभिषक्	३०५-९° से ३१९-२° तक	१८४००'-१९२००'
पू० भाद्रपद	३१९-२° से ३३२-५° तक	१९२००'-२००००'
उ० भाद्रपद	३३२-५° से ३४५-८° तक	२००००'-२०८००'
रेवती	३४५-८° से ३६०° तक	२०८००'-२१६००'

यहाँ पर यह भी अवधेय है कि प्रत्येक नक्षत्र में जो सबसे अधिक प्रकाशमान तारा है उसे योगतारा कहा जाता है। योगतारा का अर्थ है नक्षत्र के योग का मानक तारा। अर्थात् जब कोई ग्रह किसी नक्षत्र विशेष के योगतारा की सीध में आता है तभी उसे उस नक्षत्र विशेष के योग में आया हुआ माना जाता है।

स्पष्ट है कि प्रत्येक नक्षत्र के योगतारे का ध्रुवीय देशान्तर (भोगांश) उस नक्षत्र के देशान्तर से भिन्न होगा क्योंकि वह देशान्तर तारों को न मिलाकर केवल तारे विशेष की स्थिति के आधार पर निश्चित किया जाता है। जैसा कि पूर्वत्र भी स्पष्ट किया जा चुका है कि नक्षत्रों के तारे भी स्थिर नहीं हैं। वे भी आकाशगंगा के गिर्द परिक्रमा कर रहे हैं अतः उनकी स्थिति भी काल के साथ बदलने वाली है। हाँ उनकी गति बहुत धीमी है अतः काफी वर्षों में उनकी चलायमान स्थिति का ज्ञान हो पाता है। इस दृष्टि से योगतारा की स्थिति हर समय एक जैसी नहीं रह पाती। यही कारण है कि विभिन्न आचार्यों द्वारा समय-समय पर संशोधित ज्योतिषशास्त्रों में योगतारों का भोगांश भिन्न-भिन्न मिलता है। जिस आचार्य का काल जितना प्राचीन होगा उस द्वारा प्रदर्शित भोगांश या ध्रुवीय देशान्तर उतना ही कम होगा जो आचार्य जितना नवीन होगा उस द्वारा प्रदर्शित भोगांश उतना ही अधिक होगा।

वस्तुतः भोगांशों के अन्तरों का तुलनात्मक अध्ययन करने से उन-उन भोगांशों का उल्लेख करने वाले आचार्यों का कालक्रम एवं तारागति का सम्यक् ज्ञान हो सकता है। कतिपय विद्वान ज्योतिर्विद् विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रदर्शित भोगांशों में भिन्नता को मतभेद मान बैठते हैं या यह कहने लगते है कि प्राचीन आचार्यों का परीक्षण crude अर्थात् स्थूल था। कालान्तर में ज्योतिर्विज्ञान अधिक सूक्ष्मता पर पहुँचा।अतः जितना आचार्य नवीन होगा उसके मापदण्ड में उतनी ही accuracy अर्थात् यथार्थता होगी तथा वह आधुनिक वैज्ञानिक वैधद्वारा सिद्ध मानदण्ड के करीब होगा। वस्तुतः ऐसा कहने और मानने वाले ज्योतिर्विद ब्रह्माण्डीय रहस्यों से अनभिज्ञ हैं जिनका उद्घाटन करोड़ों वर्ष पूर्व इस देश के ऋषियों एवं आप्तजनों ने किया था। प्राचीन वैध भी उतना ही समीचीन एवं यथार्थ था जितना की आधुनिक माना जाता है। यह समीचीनता एवं यथार्थता ही वस्तुतः भिन्नता की जनक है। मापदण्ड अथवा वैध के परीक्षणों में कोई भिन्नता नहीं है। यदि कहीं अन्तर या भिन्नता है तो वह है काल की। काल का प्रवाह अजस्र है। वह अविरत गति से प्रवाहमान है। कुछ भी रुक सकता है, काल नहीं। अतः विभिन्न आचार्यों के मापदण्डों की भिन्नता को काल की भिन्नता के परिप्रेक्ष्य में समझना होगा। नीचे हम सूर्यसिद्धान्त में भास्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित एवं केतकी ग्रहगणित के आचार्य द्वारा प्रतिपादित विभिन्न नक्षत्रों के योगतारों के

भोगांशों की तुलनात्मक स्थिति उद्धृत करते हैं जिसके आधार पर दोनों आचार्यों का कालान्तर एवं योगतारों का गत्यन्तर समझने में सहयोग मिलेगा—

नक्षत्र	भास्कराचार्य द्वारा दृष्ट भोगांश	केतकी ग्रह गणित के आचार्य द्वारा दृष्ट भोगांश	अन्तर
अश्विनी (उ०)	८°	१०°-०६'	+२°-०६'
भरणी (उ०)	२०°	२४°-२४'	+४°-२४'
कृत्तिका (उ०)	३७°-३०'	३६°-०६'	-१°-२४'
रोहिणी (द०)	४९°-०३'	४५°-५४'	-३°-७'
मृगशिरा (द०)	६३°	५९°-५४'	-३°-०६'
आर्द्रा (द०)	६७°-०२'	६४°-५४'	-२°-०८'
पुनवर्सु (उ०)	९३°	८९°-२४'	-३°-३६'
पुष्य	१०६°	१०४°-५४'	-१°-०६'
आश्लेषा	१०९°	१०९°-४८'	-४८'
मघा	१२९°	१२६°	-३°
पू० फाल्गुनी	१४४°	१३९°-२६'	-४°-२४'
उ० फाल्गुनी	१५५°	१४७°-४८'	-७°-१२'
हस्त	१७०°	१६९°-३६'	-२४'
चित्रा	१८०°	१८०°	०
स्वाती	१९९°	१८०°-२४'	-१८°-२६'
विशाखा	२१३°	२०७°-१२'	-५°-४८'
अनुराधा	२२४°	२१८°-४२'	-५°-१८'
ज्येष्ठ	२२९°	२२५°-५४'	-३°-०६'
मूल	२४१°	२३९°	-२°
पूर्वाषाढा	२५४°	२५०°-४२'	-३°-१८'
उत्तराषाढा	२६०°	२५८°-४८'	-१°-१२'
श्रवण	२८०°	२७७°-५४'	-२°-०६'
श्रविष्ठा	२९०°	२९६°-०५	+६°-०५'

शतभिषक्	३२०°	३१७°-४२′	- २°-१८′
पूर्वभाद्रपद	३२६°	३३०°-४२′	+ ४°-४२′
उत्तरभाद्रपद	३३७°	३५०°-३०′	+ १३°-३०′
रेवती	३५९°-५०	३५९°-१८′	- ३२′

उपर्युक्त तालिका में प्रदर्शित दोनों मापदण्डों के अन्तर से विभिन्न तारों की विभिन्न गतियों का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। यहाँ पर कुछ लोग यह प्रश्न उठा सकते हैं कि दोनों मापदण्डों में भेद का कारण विधि का भेद है। भास्कराचार्य का माप ध्रुव स्थान से किया हुआ है। तथा केतकी ग्रह गणित का माप कदम्ब स्थान से। अतः अन्तर का आना स्वाभाविक है। उपर्युक्त तर्क स्वीकार्य है परन्तु दोनों विधियों से किये गये माप के अन्तर में एकरसता रहनी चाहिए थी। माप के अन्तर में विभिन्नता अवश्य ही तारों का गति भिन्नता की परिचायक है। उदाहरण के लिये २७ में केवल ५ स्थितियों में ही ध्रुवसूत्रीय भोगांश से कदम्बसूत्रीय भोगांश बढ़ा है अन्यथा २२ स्थितियों में तो घटा है उपर्युक्त तर्क के आधार पर तो २२ स्थितियों में भी बढ़ना ही चाहिए था परन्तु ऐसा नहीं हुआ। यह इस तथ्य का पोषण करता है कि उक्त अन्तर कालान्तर में तारों की विभिन्न गतियों के कारण ही उपस्थित हुआ है।

राशियाँ

३६०° अंश वाले २७ नक्षत्रों के नक्षत्र चक्र को, चन्द्रकलाओं की ३० दिन के अन्दर पुनरावृत्ति देखते हुए, ३०°-३०° अंश के १२ भागों में विभाजित किया गया। ये बारह विभाग इस नक्षत्रचक्र अथवा कालचक्र के १२ अरे कहलाए। उदाहरण के लिये ऋग्वैदिक ऋषि का कथन द्रष्टव्य है—

द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य।

आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः॥

ऋ० १.१६१.२

अर्थात् १२ अरों वाला यह चक्र द्युलोक की परिक्रमा करता हुआ जर्जरित नहीं होता। हे अग्नि ७२० पुत्र युगल रूप में अर्थात् ३६० दिन के रूप में इस चक्र पर सवारी करते हैं।

इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा गया है कि

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नाभ्यानि क उ तच्चिकेत।

तस्मिन् त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ।।

अर्थात् १२ धुरो वाला तथा तीन ऋतु रूपि नाभियों वाला एक चक्र है । उसे कौन जानता है ? उसमें ३६० शंकु अर्पित हैं ।

इस प्रकार से १३°-२०′ की समान दूरी पर विद्यमान सब नक्षत्रों का विभाजन १२ राशियों में किया गया । सुविधा के लिये प्रत्येक नक्षत्र के चार-चार भाग किये गये इस प्रकार से कुल २७ x ४ =108 विभाग हुए इन १०८ विभागों को १२ मुख्य विभागों में विभाजित करने से एक राशि में (१०८ भाग १२) = ९ विभाग अन्तर्भूत हुए। दूसरे शब्दों में ३०° की एक राशि सवा दो (२$\frac{१}{४}$) नक्षत्रों को मिलाकर बनी । नीचे विभिन्न राशियों तथा उनके अंगभूत नक्षत्रों का विवरण दिया जा रहा है जो कि राशि संरचना को समझने से सहायक सिद्ध होगा ।

जैसा कि पूर्व भी स्पष्ट किया जा चुका यह सब विभाजन सृष्ट्यारम्भ की स्थिति में ही ग्रह नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर सुनिश्चित किया गया था तथा वही सम्प्रति यावत् अनवच्छिन्न परम्परा में चला आ रहा है । कल्पारम्भ में अश्विनी नक्षत्र में ही वसन्त सम्पात् होता था अतः अश्विनी नक्षत्र को ही प्रथम नक्षत्र माना गया । नीचे प्रस्तुत राशियों का संरचनात्मक परिचय अश्विनी से ही आरम्भ होता है । समस्त विश्व में भी इसी प्रक्रिया को मान्यता मिली है । इतने लम्बे काल का इतिहास भारत में ही स्मरण रखा गया है । अतः ज्योतिर्विज्ञान समस्त विश्व में भारत से ही फैला इसमें कोई सन्देह का अवसर शेष नहीं रह जाता ।

राशि संख्या	नाम	सम्मिलित नक्षत्र
१.	मेष	अश्विनी (चार भाग), भरणी (चार भाग), कृत्तिका (एक भाग)
२.	वृष	कृत्तिका (शेष तीन भाग), रोहिणी (चार भाग), मृगशिरा (प्रथम दो भाग)
३.	मिथुन	मृगशिरा (अन्तिम दो भाग), आर्द्रा, (चार भाग) पुनवर्सु (तीन भाग)
४.	कर्क	पुनवर्सु (शेष एक भाग), पुष्य (चार भाग) , आश्लेषा (चार भाग)
५.	सिंह	मघा (चार भाग), पू० फाल्गुनी (चार भाग), उ० फाल्गुनी (एक भाग)

६.	कन्या	उ० फाल्गुनी (शेष तीन भाग) , हस्त (चार भाग), चित्रा (दो भाग)
७.	तुला	चित्रा (शेष दो भाग), स्वाती (चार भाग), विशाखा (तीन भाग)
८.	वृश्चिक	विशाखा (शेष एक भाग), अनुराधा (चार भाग), ज्येष्ठा (चार भाग)
९.	धनु	मूल (चार भाग), पूर्वाषाढा (चार भाग), उत्तराषाढा (एक भाग)
१०.	मकर	उत्तराषाढा (शेष तीन भाग), श्रवण (चार भाग), घनिष्ठा (दो भाग)
११.	कुम्भ	घनिष्ठा (शेष दो भाग), शतभिषक् (चार भाग), पू० भाद्रपद (तीन भाग)
१२.	मीन	पू० भाद्रपद (शेष एक भाग), उ० भाद्रपद (चार भाग), रेवती (चार भाग)

उपर्युक्त तालिका से १२ राशियों की सरंचना के विषय में ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है । अब प्रश्न उठता है कि विभिन्न राशियों के नाम कब क्यों और किस आधार पर रखे गये ? इस सम्बन्ध में यह बताना आवश्यक है कि वैदिक ऋषियों ने राशियों का कोई नाम विशेष नहीं रखा । उन्होंने तो चन्द्रमा के परिक्रमण पथ पर विद्यमान मुख्य-मुख्य योगतारों का ही नामकरण किया । विभिन्न राशियों एवं सभी नक्षत्रों का नामकरण तो उसी समय हुआ जब ज्योतिर्विज्ञान भारत से बाहर युनानादि अन्य देशों में पहुँचा । वहाँ के लोगों को विभिन्न राशियों एवं नक्षत्रों की पहचान में जब कठिनाई अनुभव होने लगी तो उन्होंने उन-उन नक्षत्रों एवं राशियों में सम्मिलित तारों से बनने वाली आकृतियों के आधार पर उनका नामकरण किया । उस समय से ही राशि एवं नक्षत्रों को उनके तारों की आकृति के आधार पर पहचानने की परम्परा प्रारम्भ हुई । समस्त ज्योतिर्विज्ञान के इतिहास में केवल मात्र इतना ही विदेशियों का योगदान है कि उन्होंने आकृति विशेषों के आधार पर राशियों को पहचानने की परम्परा का सूत्रपात किया । यहाँ यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है कि हिन्दु-मनीषियों ने ऐसा क्यों नहीं किया ? उत्तर पहले भी दिया जा चुका है कि हिन्दुओं को यह तथ्य ज्ञात था कि विभिन्न तारे भी गतिशील हैं । अतः तारों की विभिन्न गतियों के कारण उक्त आकृतियाँ बदल

जाएंगी। अतः आकृतियों में सर्वकालिकता का अभाव होने के कारण वैदिक ऋषियों ने प्रकृति के सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक विज्ञान को काल अथवा देश की परिधि में सीमित न रखने की दृष्टि से ऐसा किया।

नीचे विभिन्न तारों से बनने वाली विभिन्न आकृतियाँ तथा तदाधार पर रखे गये कुछ राशियों के नामों को रेखाचित्रों से दिखाया जा रहा है, जो कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विभिन्न राशियों के नामों को समझने में सहायक होंगे, यथा—
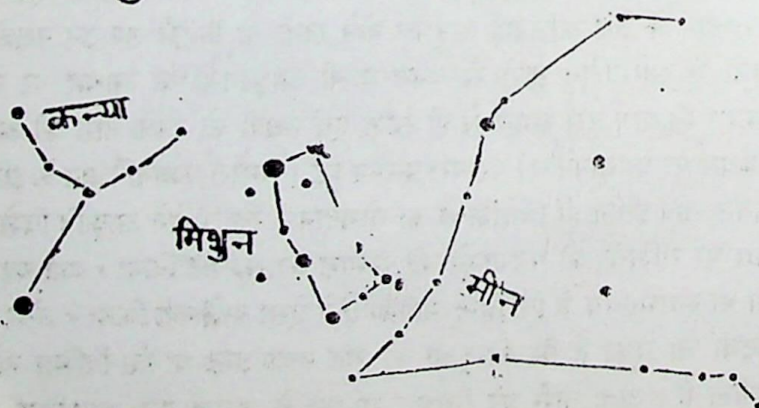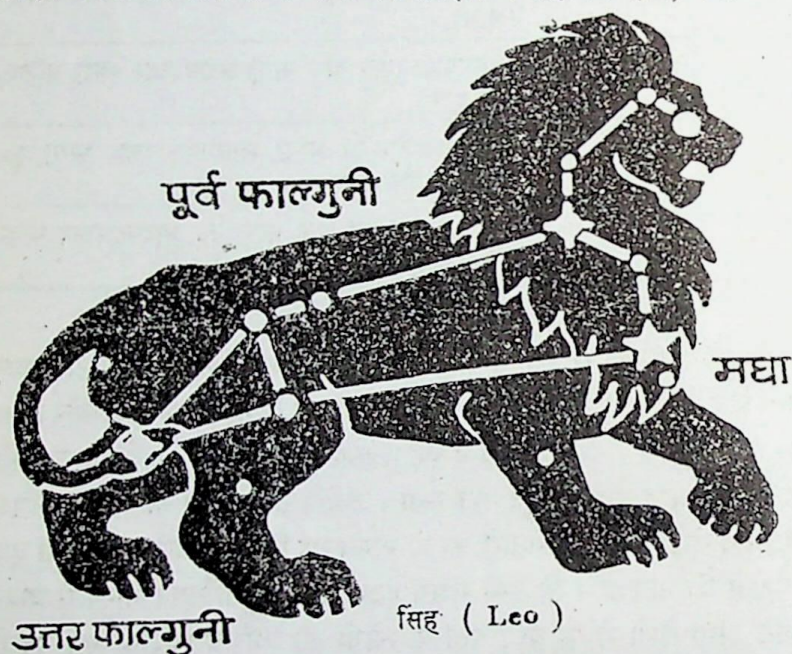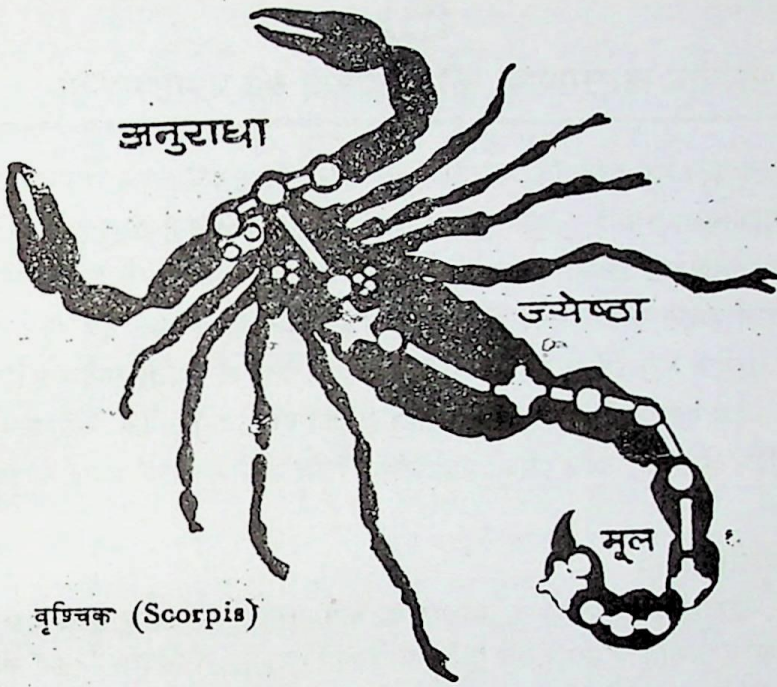
अनुराधा
ज्येष्ठा
मूल
वृश्चिक (Scorpis)
सिंह
उत्तर फाल्गुनी
पूर्व फाल्गुनी
कुंभ
कर्क
मेष
वृष

१६
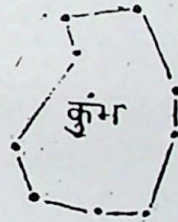
भारतीय कालगणना की प्राचीनता की प्रामाणिकता

अब प्रश्न यह उठता कि भारतीय कालगणना की प्राचीनता की प्रमाणिकता तथा वैज्ञानिकता क्या है ? क्या यह सचमुच कल्पना है अथवा तथ्य है ? यदि यह तथ्य है तो क्या इसको परिपुष्ट करने वाला कोई अन्य आधार है ? इस प्रश्न के उत्तर में हमारा कथन यह है कि भारतीय कालगणना एक अकाट्य सत्य है जो कि कल्पना नहीं अपितु एक तथ्य है, एक ऐसा तथ्य जो अविश्वसनीय प्रतीत होता है । इस गणना की प्राचीनता आधुनिक विज्ञान द्वारा किये अनेक अनुसंधानों से प्रमाणित होती है । आज इसकी प्रमाणिकता सिद्ध करने के लिए अनेक साक्ष्य हैं । यथा–

१. खगोलीय साक्ष्य

१. खगोलीय निरीक्षणों के आधार पर पता लगा है कि आज से लगभग २०० करोड़ अर्थात् २ अरब वर्ष पूर्व निहारिकाएँ (Nabula) परस्पर निकट थी (क्रमशः उनके मध्य की दूरी बढ़ रही है) जैफ्रे (Jaffrey) के मत में तभी सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति हुई होगी ।

२. चन्द्रमा के आकर्षण से पृथिवी पर ज्वार उत्पन्न होता है । ज्वार के कारण पृथिवी की दैनिक गति (rotation) में बाधा पड़ती है । इससे पृथिवी की दैनिक गति का समय बढ़ता जा रहा है । पृथिवी की परिभ्रमण गति में कमी के कारण चन्द्रमा क्रमशः १३ से०मी० प्रतिवर्ष की दर से पृथिवी से दूर हट रहा है । पृथिवी से चन्द्रमा की वर्तमान दूरी ३.८६ लाख कि०मी० है । इसके आधार पर भी पृथिवी की आयु २ अरब से अधिक नहीं जा सकेगी । चूंकि चन्द्रमा की उत्पत्ति पृथिवी से मंगलग्रह के अलग होने के साथ एक फालतु टुकड़े के रूप में हुई । ऐसी स्थिति में चन्द्रमा उत्पत्ति के समय पृथिवी से लगभग एक लाख कि०मि० दूर अवश्य रहा होगा । वर्तमान समय में मंगल तथा पृथिवी के बीच की दूरी लगभग ७ करोड़ कि०मी० है । अतः यदि २.८६ लाख कि०मी० के हिसाब से लगाएँ तो लगभग २ अरब वर्ष ही आता है ।

२. भूवैज्ञानिक साक्ष्य

१. सागरीय लवणता (Oceanic Salinity): अनेक प्रकार के लवणों की उपस्थिति से सागरीय जल खारा होता रहता है। अनुमान किया जाता है कि सागरों की उत्पत्ति के समय उनका जल खारा नही था। वर्षा के जल तथा नदियों द्वारा महाद्वीपों के अपरदन द्वारा अनेक लवण सागरों में निक्षेपित किए गये। समुद्रों में लवणों की कुल मात्रा १.२६×१०^{१२} ग्राम के लगभग आंकी गई है। विभिन्न समयों में नदियाँ विभिन्न मात्रा में लवण समुद्रों तक पहुँचाती रही होंगी तथा वर्तमान में नदियाँ प्रतिवर्ष १.५६×१०^{१४} ग्राम नमक समुद्रों तक पहुँचाती हैं। अपरदन की यह क्षमता दिन प्रतिदिन बढ़ती गई। इस अनुमान के आधार पर सागरों की आयु १५० करोड़ वर्ष के लगभग आँकी गई है। इस आधार पर पृथिवी की आयु उससे भी अधिक आँकी जा सकती है।

२. अवसाद क्रिया (Sedimentation): आग्नेय शैलों के अपरदन से अवसादी शैलों की रचना हुई है। अपरदन के साधनों से धरातल के उच्च भागों का अपरदन होता रहता है तथा अपर्दित पदार्थ सागरों एवं निम्न भूभागों में एकत्र होता रहता है। अवसादी शैलों की आयु का ज्ञान करने के अनेक प्रयास विद्वानों द्वारा किये गये हैं। होम्स (Holmes) के अनुसार टेम्स नदी प्रतिवर्ष १० से २० लाख मीट्रिक टन पदार्थ सागर में निक्षेपित करती है। इस हिसाब से कुल महासागरों में ६०० करोड़ मीट्रिक टन अवसाद होगा। एक अन्य अनुसंधान से ज्ञात हुआ कि मिश्र में रेमजेज द्वितीय की ३००० वर्ष पुरानी प्रस्तर की मूर्ति पर ९ फिट गहरे अवसाद एकत्र हो गये हैं। अर्थात् १००० वर्ष में ३ फिट गहरे अवसाद एकत्र हुए होंगे। होम्स के अनुसार भूपटल पर अवसादों की अधिकतम मोटाई ११२ कि०मी० है। इससे अवसादी शैलों की आयु १३० करोड़ वर्ष निर्धारित होती है। पृथिवी की आयु उससे कहीं दोगुनी मानी जा सकती है। अतः इस आधार पर भी यदि हम भारतीय कालगणना के आधार पर प्राणीजीवन का संचार १९७ करोड़ वर्ष माने तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

२. रेडियो क्रियाशीलता (Radio-activity)

पियरे क्यूरी (Pierre Curie 1903) ने सर्वप्रथम रेडियो एक्टिव पदार्थों के विखण्डन (disintegration) से ऊष्मा की उत्पत्ति का प्रमाण दिया। रदर फोर्ड (Ruther Ford, 1904) ने रेडियो एक्टिव तत्त्वों द्वारा शैलों की आयु को जाँचने का प्रयास किया। यूरेनियम एवं थोरियम दो प्रमुख रेडियो एक्टिव तत्त्व हैं जो

विखण्डित होकर एल्फा कणों को उत्पन्न करते हैं। इन तत्त्वों की सहायता से पृथिवी की आयु निम्न विधियों से जाञ्ची गई है।

(क) **सीसा विधि**– यूरेनियम खनिज के निरन्तर विखण्डन से वह सीसे में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार शैलों में मौजूद सीसे के अंश से यह ज्ञात किया जा सकता है कि कितनी अवधि में इतनी मात्रा के यूरेनियम से सीसे में रूपान्तरण हुआ है। इस विधि से शैल की आयु का भी ज्ञान होता है।

(ख) **हीलियम विधि**– शैलों में हीलियम की मात्रा ज्ञात करके शैल की आयु का ज्ञान किया जा सकता है।

शैलों की आयु जानने के लिये रेडियो क्रियाशीलता का आधार बहुत उपयोगी है क्योंकि रेडियो-एक्टिव तत्त्वों का रूपान्तरण धीमी गति से होता है तथा उस पर ताप दबाव या अन्य बाहरी वस्तु या शक्ति का प्रभाव नहीं पड़ता। विभिन्न युगों में निर्मित आग्नेय शैलों में उपस्थित रेडियो एक्टिव तत्त्वों के रूपान्तरण का अध्ययन करके शैलों की आयु लगभग २०० करोड़ वर्ष आंकी गई है जो कि भारतीय गणना की सत्यता की पुष्टि करती है।

३. **जीवविज्ञान के साक्ष्यः**– विभिन्न जीव वैज्ञानिकों ने धरातल पर पाये जाने वाले जीवावशेषों अथवा जीवाश्मों की सहायता से शैलों की आयु निर्धारित करने का प्रयास किया है। विद्वानों के अनुसार शैल भौगर्भिक इतिहास के पृष्ठ तथा जीवाश्म उनके अक्षर हैं। शैलपरतों में दबे हुए एवं अंकित जीवाश्मों की सहायता से शैलों की आयु का ज्ञान प्राप्त होता है। जीवाश्म आग्नेय या कायान्तरित शैलों की अपेक्षा अवसादी शैलों में दबे हुए या अंकित मिलते हैं। वस्तुतः जीवाश्मों के चिह्न अवसादी शैलों से ही प्राप्त किये जा सकते हैं आग्नेय से ऐसा सम्भव नहीं। क्योंकि सर्वप्रथम तो आग्नेय शैल लावा के ठण्डे होने से बनी तथा लावा के समय जीवों की स्थिति सम्भव नहीं थी। अतः जीवन के संकेत वहीं अंकित हो पाये जहाँ शैलों का निर्माण अवसादन से हो रहा था।

पृथिवी के भौगर्भिक इतिहास के प्रत्येक युग में विशेष प्रकार के जीवाश्म शैलों में उपस्थित पाये जाते हैं। प्राचीन शैलों के अध्ययन से पृथिवी पर जीवन का सूत्रपात १०० या १५० करोड़ वर्ष पूर्व माना गया है। तथा पृथिवी की आयु २०० करोड़ वर्ष के पूर्व मानी गई है। जीवविज्ञान का उपर्युक्त साक्ष्य दोनों ही ढंग से भारतीय मत की पुष्टि करता है। भारतीय कालगणना १९७ करोड़ वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होती है। जो कि पृथिवी पर १९७ करोड़ वर्ष पूर्व जीवन को इंगित करती है। वस्तुतः इस गणना के आधार पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं उस समय

उपस्थित मानवों ने ही इसे प्रचलित किया। सूर्य सिद्धान्त के अनुसार १ करोड़ ७० लाख ६४ हजार वर्ष बाद ही जीवन का संचार पृथिवी पर हो गया था। इसके आधार पर तो पृथिवी की आयु अथवा उत्पत्ति १९९००१३९६ वर्ष पूर्व अर्थात् २ अरब वर्ष के आस-पास ठहरती है। अतः पृथिवी की उत्पत्ति एवं जीवन के संचार के विषय में भारतीय मत की पुष्टि उपर्युक्त विभिन्न वैज्ञानिक अनुसंधानों से हो जाती है। जहाँ तक पृथिवी की उत्पत्ति के १७० लाख वर्ष बाद जीवन की उत्पत्ति का सम्बन्ध है, इस विषय में खगोलीय अनुसंधानों के परिप्रेक्ष्य में इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि यदि आधुनिक विज्ञान के अनुसार सूर्य में प्रति सैकेण्ड, ८० करोड़ टन हाईड्रोज़न व्यय हो रही है तथा यदि सूर्य के Mass (संहति) को देखते हुए उसकी समस्त हाईड्रोजन व्यय होने में अर्थात् उसके ठण्डे होने में ४७०० करोड़ वर्ष लगेंगे तो पृथिवी को ठण्डा होने में तो (उसके धनत्व संहति आदि का हिसाब से) मात्र दो तीन लाख वर्ष ही लगेंगे। अतः पृथिवी पर जीवन की उत्पत्ति पृथिवी की उत्पत्ति के २ लाख वर्ष बाद तक अवश्य हो चुकी होगी। इस तरह से भारतीय मतानुसार पृथिवी की उत्पत्ति ठीक २ अरब वर्ष पूर्व के आस-पास हुई। तथा यही मत सर्ववैज्ञानिक साक्ष्यों से परिपुष्टि पा रहा है। अतः यहाँ यह कहना अनर्गल न होगा कि समस्त विश्व को अन्य युगों वा गणनाओं का परित्याग कर भारतीय सृष्ट्युत्पत्ति की गणना को एकमत से स्वीकार कर लेना चाहिये।

78

१७

भारतीय कालगणना के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन भारतीय इतिहास का आकलन

जैसा कि पूर्वपंक्तियों में स्पष्ट किया जा चुका है कि वैदिक लोगों के लिये तो स्वयं काल भी एक अध्ययन का विषय था। काल के सूक्ष्म दार्शनिक एवं वैज्ञानिक पक्ष का विश्लेषण वैदिक लोगों द्वारा समय-समय पर किया गया है। काल के सूक्ष्म अध्ययन के अतिरिक्त काल के इतिहास के संरक्षण का भी महत्त्वपूर्ण कार्य हिन्दुओं द्वारा सम्पन्न हुआ है। काल को सर्वोपरि माना गया। अतः काल के परिप्रेक्ष्य में प्रकृति, प्राणी एवं मानव जीवन से सम्बन्धित अनेक पक्षों का आकलन एवं विश्लेषण भी समय-समय पर भारत में सम्पन्न हुआ। आधुनिक समय में कालगणना के परिप्रेक्ष्य में केवल मात्र मानव जीवन के राजनैतिक एवं सामाजिक पक्ष का ऐतिह्य कथन ही अभिप्रेत है। इसके अतिरिक्त कालगणना के जिस स्वरूप को आधुनिक वैज्ञानिकों, विद्वानों किंवा इतिहासविदों ने अपनाया है वह पूर्णतया व्यक्तिपरक एवं साम्प्रदायिक है। आधुनिक गणना में तो काल को गणना का केन्द्र न मानकर व्यक्तिविशेष को ही काल का केन्द्र मान लिया गया है। इतना ही नहीं काल को भी साम्प्रदायिक आवरण पहनाने वाले तथाकथित सम्प्रदायनिरपेक्ष आधुनिक विद्वानों ने साम्प्रदायिक विद्वेष को अतिशयित करने के लिये ही केवल मात्र राजनैतिक इतिहास के लेखन पर बल दिया। जिसको पढ़ कर केवलमात्र साम्प्रदायिक विद्वेष अथवा घृणा का ही प्रचार होता है न कि मानव का मानव के प्रति सौहार्द अथवा प्यार बढ़ता है। मानव-मानव के बीच की खाई बढ़ाने वाले, मानव रक्त से मनोरंजन कराने वाले इस प्रकार के ज्ञात इतिहास के काल को ऐतिहासिक युग की संज्ञा दी गई है। जिस काल का इस प्रकार का इतिहास ज्ञात नहीं है, उसे हमारे इतिहासविद् प्रागैतिहासिक काल की संज्ञा देते हैं। इस विषय में उनका तर्क है कि अमुक काल का इतिहास प्राप्त नहीं है।

यहाँ पर यह जानकर हमें आश्चर्य होगा कि भारतीय मनीषियों ने तो काल के इतिहास को सुरक्षित रखते हुए तथाकथित प्रागैतिहासिक युग के इतिहास को भी सुरक्षित रखा। इस प्रागैतिहासिक युग का आरम्भ भारत में १९७ करोड़ वर्ष पूर्व होता है तथा इसे विभिन्न चरणों में विभाजित किया गया है। यह जानकर

बहुत से विद्वान् ऐसी आपत्ति अवश्य ही कर सकते हैं कि इतने सुदीर्घकालीन काल की स्मृति एवं तद्गत इतिहास का संरक्षण असम्भव है। परन्तु भारतीय परम्परा का ज्ञान एवं वैदिक साहित्य तथा पौराणिक साहित्य का गहन अध्ययन इन सब शंकाओं को निर्मूल कर देता है। पौराणिक साहित्य एवं स्मृति आदि अन्य ग्रन्थों में करोड़ों वर्षों के प्रकृति के इतिहास, प्राणियों की विभिन्न योनियों, एवं मानव जीवन के विकास तथा ज्ञान-विज्ञान के प्रसार-प्रचार में अतिविशिष्ट योगदान देने वाले भूपतियों एवं विद्वानों की वंशावलियों का विवरण स्मरण रखा गया है।

यह विषय प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय न होने के कारण हम यहाँ पर पुराणगत एवं स्मृतिगत सामग्री के आधार पर संक्षेप में दर्शाना चाहते हैं कि १९७ करोड़ वर्षों के विभिन्न कालखण्डों में कौन-कौन व्यक्ति प्रसिद्ध थे।

मनुस्मृति में में स्पष्टतया प्रतिपादित किया गया है कि गत षण्मन्वन्तरों का नामकरण तद् तद् समयों में उत्पन्न अधिकृत मनीषियों के नामों के आधार पर किया गया। यथा— सात मनुओं के नामों का उल्लेख हम पहले ही **मन्वन्तरों के नामकरण का आधार** अनुच्छेद में कर चुके हैं। प्रस्तुत सृष्टि में मानव ने जब से होश सम्भाला है, स्वयम्भू मनु प्रथम व्यक्ति था। उसी का नाम स्वयम्भू ब्रह्मा भी है। दूसरे मन्वन्तर में स्वारोचिष मनु हुआ, तीसरे मन्वन्तर में उत्तम, चौथे में तामस, पाँचवे में रैवत तथा छटे में महातेजस्वी चाक्षुष उत्पन्न हुआ। सातवें मन्वन्तर में विवस्वान् सर्वप्रथम उत्पन्न व्यक्ति था। विवस्वान् के वंश का उल्लेख पुराणों में विस्तार से हुआ है। वैवस्वत मन्वन्तर में ज्ञान का प्रसार करने वाला विवस्वान् ही सबसे पहला व्यक्ति था। गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को स्पष्ट बताया है सब व्यक्तियों के सृष्टि के प्रारम्भ से अनेक जन्म हो चुके हैं परन्तु सब उन जन्मों को नहीं जानते, विशिष्ट योगयुक्तात्मा व्यक्ति ही अपने पिछले जन्मों के बारे में जान सकते हैं। इसी शृंखला में श्रीकृष्ण कहते हैं कि योग का ज्ञान भी प्रस्तुत मन्वन्तर के प्रारम्भ में विवस्वान को दिया गया था। विवस्वान ने मनु को दिया मनु ने इक्ष्वाकु को बताया। इस प्रकार से राजर्षियों की परम्परा में यह ज्ञान चलता रहा तथा बहुत काल के अन्तराल में इस ज्ञान का लोप हो गया तथा ३१४८ ईसापूर्व पुनः उस ज्ञान को श्रीकृष्ण ने अर्जुन के समक्ष उद्घाटित किया–

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजषर्यो: विदुः।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतपः ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ४.१.३

इस प्रकार से गीता से ज्ञात होता है कि वैवस्वत मन्वन्तर में योग की परम्परा विवस्वान् से प्रारम्भ होती है ।

इसके अतिरिक्त ब्रह्माण्ड पुराण में वर्तमान मन्वन्तर में विभिन्न महायुगों में उत्पन्न हुए वेदव्यासों की परम्परा का उल्लेख मिलता है । तदनुसार– मन्त्र एवं ब्राह्मणों के प्रवक्ता तथा अन्य शास्त्रों एवं विद्याओं के कर्त्ता ऊर्ध्वरितस ऋषि जो दिवंगत हो जाते हैं, महायुग अर्थात् ४३,२०,००० वर्ष के अनन्तर पुनः उत्पन्न होते हैं ।

ये श्रुयन्ते दिवं प्राप्ताः ऋषयो ह्यूर्ध्वरेतसः ।

मंत्र-ब्राह्मण-कर्तारः जायन्ते च युगक्षयात् ।।ब्रह्म पु० १.२.३४.११३-११४

वैवस्वत मन्वन्तर में इस परम्परा की पुनरावृत्ति द्वापर युगों देखी गई । प्रत्येक महायुग के द्वापर में दोहराई जाने वाली परम्परा में सम्प्रति यावत् २८ वेदव्यास पैदा हो चुके हैं ।

एवमावर्तमानस्ते द्वापरेषु पुनः पुनः ।

कल्पानामार्षविद्यानां नाना शास्त्रकृतश्च ये ॥

वैवस्वतेऽन्तरे तस्मिन् द्वापरेषु पुनः पुनः ।

अष्टाविंशतिकृत्वा वै वेदा व्यस्ता महर्षिभिः ।।ब्रह्म. पु.१.२.३४.११४-११६

ब्रह्माण्ड पुराण की परम्परा में विभिन्न महायुगों के द्वापर युग में उत्पन्न होने वाले २८ वेदव्यासों की स्मृति यथावत् विद्यमान है । तद्यथा—

वेदों का व्यास अर्थात् विभाजन करने वाले प्रथम वेदव्यास प्रस्तुत मन्वन्तर के प्रथम द्वापर में उत्पन्न हुए जिनका नाम भी स्वयंभुव वेदव्यास था । इस प्रकार से उनका काल ११,६६,४५,०९९ वर्ष पूर्व स्थापित होता है । विष्णु पुराण (३.३.११) की परम्परा भी उक्त तथ्य का समर्थन करती है, उसके अनुसार भी प्रथम द्वापर में वेदों का व्यास स्वयंभू ने किया । **द्वापरे प्रथमे व्यस्ताः स्वयं वेदाः स्वयम्भुवा ।** शंकराचार्य अपने वेदान्त दर्शन के भाष्य में उक्त तथ्य का पोषण करते हुए बताते हैं कि महायुगों के अन्तराल में वेदों का लोप होता रहा है तथा वैवस्वत मन्वन्तर से पूर्व महर्षि लोग तपस्या समाधि से उनका ज्ञान करते रहे हैं । प्रस्तुत मन्वतर में स्वयंभू को वे अनुज्ञात हुए—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।

लेभिरे तपसा पूर्वम् अनुज्ञाता स्वयंभुवा ।। १.३.३०

इस शृंखला में द्वितीय वेदव्यास प्रजापति उत्पन्न हुए जिनका समय द्वितीय महायुग का द्वापर था । इस प्रकार से उनका काल ११,२३,२५,०९९ वर्ष ठहरता है ।

प्रथमे द्वापरे व्यस्ता स्वयं वेदा स्वयंभुवा ।

द्वितीये द्वापरे चैव वेदव्यासः प्रजापतिः ।। १.२.३५.११६-११७

तृतीय वेदव्यास उशना थे जिनका काल तृतीय द्वापर अर्थात् १०,८०,०५,०९९ वर्ष के लगभग स्मरण किया गया है चतुर्थ वेदव्यास बृहस्पति थे जो चतुर्थ द्वापर अर्थात् १०,३६,८५,०९९ वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए ।

पंचम वेदव्यास सविता थे जो पंचम द्वापर अर्थात् ९,६३,६४,०९९ वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए ।

षष्ठ द्वापर में अर्थात् ९,५०,४५,०९९ वर्ष पूर्व 'मृत्यु' नामक वेदव्यास उत्पन्न हुए ।

तृतीये चोशना व्यासः चतुर्थे च बृहस्पतिः ।

सविता पंचमो व्यासः मृत्युः षष्ठे स्मृतः प्रभुः ।। १.२.३५.११७-११८

सप्तम द्वापर में अर्थात् ९,०७,३५,०९९ वर्ष पूर्व इन्द्र, अष्टम द्वापर में अर्थात् ८,६४,०५,०९९ वर्ष पूर्व वसिष्ठ उत्पन्न हुए ।

सप्तमे च तथैवेन्द्रः वशिष्ठश्चाष्टमे स्मृतः । ब्रह्म० १.२.३५.११८.

नवम द्वापर में अर्थात् ८,२०,८५,०९९ वर्ष पूर्व सरस्वती के पुत्र सारस्वत वेदव्यास वने ।

दशम द्वापर में अर्थात् ७,७७,६५,०९९ वर्ष पूर्व त्रिधामा ने वेदव्यास का कार्य किया ।

ग्यारहवें द्वापर अर्थात् ७,३४,४५,०९९ वर्ष पूर्व त्रिवृषा वेदव्यास के रूप में उत्पन्न हुए ।

बाहरवें द्वापर में अर्थात् ६,९१,२५,०९९ वर्ष पूर्व सनद्वाज वेदव्यास थे ।

सारस्वतस्तु नवमे त्रिधामा दशमे स्मृतः ।

एकादशे तु त्रिवृषः सनद्वाजः ततः परम ।। १.२.३५.११९

तेहरवें द्वापर में अर्थात् ६,४८,०५,०९९ वर्ष पूर्व अन्तरिक्ष वेदव्यास बने ।

चौदहवें द्वापर में अर्थात् ६,०५,८४,०९९ वर्ष पूर्व धर्म ।

पंद्रहवें द्वापर में अर्थात् ५,६१,६५,०९९ वर्ष पूर्व त्रय्यारुणि।

सोलहवें द्वापर में अर्थात् ५,१८,४५,०९९ वर्ष पूर्व धनञ्जय वेदव्यास थे।

त्रयोदशे चान्तरिक्षो धर्मश्चापि चतुर्दशे।

त्रय्यारुणिः पंचदशे षोडशे तु धनञ्जयः ॥ १.२.३४.१२०

सत्रहवें द्वापर में अर्थात् ४,७५,२५,०९९ वर्ष पूर्व कृतञ्जय,

अठाहरवें द्वापर में अर्थात् ४,३२,०५,०९९ वर्ष पूर्व ऋषीज, अनन्तर उन्नीसवें द्वापर अर्थात् ३,८८,८५,०९९ वर्ष पूर्व भरद्वाज तथा तत्पश्चात् बीसवें द्वापर अर्थात् ३,४५,६५,०९९ वर्ष पूर्व गोतम के पुत्र गौतम को वेदव्यास की मान्यता मिली।

कृतञ्जयः सप्तदशे ऋषीजोऽष्टदशे स्मृतः।

ऋषीजात्तु भरद्वाजः भरद्वाजात्तु गौतमः ॥ १.२.३४.१२१

गौतम के अनन्तर उत्तम को २१वें द्वापर अर्थात् ३,०२,४५,०९९ वर्ष पूर्व वेदव्यास की उपाधि मिली।

२२वें द्वापर अर्थात् २,५९,२५,०९९ वर्ष पूर्व हर्यवन को वेदव्यास का सम्मान मिला।

२३वें द्वापर अर्थात्, २,१६,०५,०९९ वर्ष पूर्व वेन, तथा

२४वें द्वापर में अर्थात् १,७२,८५,०९९ वर्ष पूर्व वाचश्रव सोममुख्यायन वेदव्यास के रूप में विख्यात हुए।

गौतमादुत्तमश्चैव ततो हर्यवनः स्मृतः।

हर्यवनात् परो वेनः स्मृतो वाचश्रवस्ततः ॥ १.२.३४.१२२

वाचश्रव के बाद २५वें द्वापर अर्थात् १,२९,६५,०९९ वर्ष पूर्व तृणबिन्दु ततज को वेदव्यास बनने का श्रेय प्राप्त हुआ।

२६वें द्वापर अर्थात् ८६,४५,०९९ वर्ष पूर्व शक्ति तथा शक्ति के उपरान्त को २७वें द्वापर में अर्थात् ४३,२५,०९९ वर्ष पूर्व पराशर जातूकर्ण को वेदव्यास के रूप में ख्याति मिली। अन्ततोगत्वा २८वें द्वापर के अन्त में अर्थात् ५०९९ वर्ष पूर्व कृष्ण द्वैपायन का वेदव्यास के रूप में जन्म हुआ।

अर्वाक् च वाचश्रवसः सोममुख्यायनस्ततः।

तृणविन्दुस्ततजः तस्मात् तृणबिन्दुतः।

ततजाच्च स्मृतः शक्तिः शक्तेश्चापि पराशरः।

जातूकर्णोऽभवतस्मात् द्वैपायनः स्मृतः ॥ १.२.३५.१२४.१२५

इस प्रकारसे ब्रह्माण्ड पुराण की परम्परा में उक्त २८ वेदव्यासों को पुरातन कहा गया है। यही नहीं २९वें भावी वेदव्यास के नामकरण की भविष्यवाणी भी कृष्णद्वैपायन की जगह द्रोणी द्वैपायन के रूप में की गई है—

अष्टाविंशतिरित्येते वेदव्यासाः पुरातनाः।

भविष्ये द्वापरे चैव द्रोणि द्वैपायनोऽपि च ॥ १.२.३५.१२५

ब्रह्माण्ड पुराण में वेदव्यासों की इस लम्बी परम्परा के अतिरिक्त अन्य महानुभावों के भी विभिन्न कालों में उत्पन्न होने के संकेत प्राप्त होते हैं, यथा—

१. वायु पुराण (९२.१०) में दूसरे द्वापर के प्रारम्भ अर्थात् ११,९६,५४,००० वर्ष पूर्व शौन होत्र नामक देदीप्यमान् सम्राट के उत्पन्न होने की सूचना मिलती है जिसने पुत्र की कामना से दीर्घ तपस्या की थी।

द्वितीये द्वापरे प्राप्ते शौनहोत्रो प्रकाशिराट्।

पुत्रकामः तपस्तेपे नृपो दीर्घतपस्तथाः ॥ (वायु० ९२.१०)

२. इसी प्रकार पुराण परम्परा से ज्ञात होता है कि सप्तम त्रेतायुग अर्थात् ९,२९,७५,०९९ वर्ष पहले तीनों लोकों में बलि का शासन था तथा उसी के शासन काल में विष्णु ने वैवस्वत मन्वन्तर में वामन के रूप में तृतीय अवतार लिया था।

बलिसंस्थेषु त्रेतायां सप्तमे युगे।

देत्यैस्त्रैलोक्यमापन्ने तृतीयो वामनोऽभवत् ॥

३. पुराण परम्परा के इसी क्रम में मत्स्य पुराण की परम्परा से ज्ञात होता है कि विष्णु का छटा अवतार जो कि वैवस्वत मन्वन्तरीय अवतारों में चतुर्थ हैं, १९वें त्रेतायुग में जमदग्नि के पुत्र परशुराम के रूप में हुआ था।

एकोनविंश्यां त्रेतायां सर्वक्षत्रान्तको विभुः।

जामदग्न्यस्तथा षष्ठो विश्वामित्र पुरस्सरः ॥ मत्स्य-(३.४७.२२३)

इस प्रकार सब क्षत्रियों का विनाश करने वाले जमदग्नि के पुत्र परशुराम का समय ७,९४,८८,००० वर्षों के आस-पास सिद्ध होता है। उनसे पहले विश्वामित्र का जन्म हुआ था। इससे यह भी सिद्ध होता है विश्वामित्र उनके अग्रज थे।

४. विष्णु के सातवें अवतार अर्थात् वैवस्वतमन्वन्तरीय पांचवें अवतार दशरथपुत्र राम एवं उनके दीक्षा गुरु विश्वामित्र तथा रावण का समय भी विभिन्न पुराण परम्पराओं से सहज ज्ञात हो जाता है। ये पुराण परम्पराएँ राम के समय को २४वें त्रेतायुग में सुनिश्चित करती हैं यथा—

वायुपुराण(७०.८८) के अनुसार २४वें त्रेता युग में रावण का विनाश दाशरथि राम के हाथों हुआ।

त्रेतायुगे चतुर्विंशे रावणः तपसः क्षयात्।

रामं दाशरथिं प्राप्त सगणः क्षयमीयीवान्।

हरिवंश (२२.१०४) के अनुसार—२४वें त्रेतायुग में विश्वामित्र पूर्वक राम की प्रसिद्धी सम्पूर्ण विश्व में हुई जो कि तेजमें सूर्य के समान था।

चतुर्विंशे युगे चापि विश्वामित्रपुरःसरः।

लोके राम इति ख्यातः तेजसा भास्करोपमः।।

ब्रह्माण्डपुराण (२.२.३६.३०) के अनुसार २४वें युग के त्रेतायुग में राम के जन्म का उल्लेख में हुआ है।

चतुर्विंशे युगे वत्स त्रेतायां रघुवंशजः।

रामो नाम भविष्यामि चतुर्व्यूहः सनातनः।।

योगवासिष्ठ से ज्ञात होता है कि, वसिष्ठ जिस समय राम को उपदेश दे रहे थे उस समय त्रेता का प्रचलन था, यथा

अद्य राम कृते क्षीणे त्रेता सम्प्रति वर्तते। योग वा० २७.१८

इतना ही नहीं राम के जन्म के विषय में और भी अधिक निश्चयात्मक जानकारी प्राप्त होती है कि उनका जन्म त्रेता एवं द्वापर के संधिकाल में हुआ।

संधौ तु समनुप्राप्ते त्रेताया द्वापरस्य च।

रामो दाशरथिर्भूत्वा भविष्यामि जगत्पतिः।। ३४८.१९ शा० प०

रामायण से यह भी ज्ञात होता है कि राम के समय वसन्तसम्पात पुनवर्सु नक्षत्र में होता था। २४वें त्रेता एवं द्वापर का सन्धि काल तथा पुनवर्सु में वसन्त सम्पात की सूचना के आधार पर राम जन्म का समय ९०० वर्ष की परिधि में बिल्कुल सही ज्ञात किया जा सकता है। सम्प्रति वसन्त सम्पात पूर्वभाद्रपद में होता है जो कि पुनवर्सु के सापेक्ष लगभग १३३° पीछे चला गया है। पुनवर्सु में वसन्त सम्पात का न्यूनातिन्यून काल १३३x ७२ = ९५७६ वर्ष पूर्व रहा था २४वें त्रेता एवं द्वापर का संधिकाल लगभग १,८१,३७,०९९ वर्ष था। इस काल के आस-पास पुनवर्सु नक्षत्र में वसन्त सम्पात का गणित लगभग १,८१,५१,५७६ वर्ष पूर्व आता है। तथा इस समय से ९०० वर्ष आगे तक की कालावधि के मध्य श्रीराम का काल जानना चाहिए।

६. इसी प्रकार से महाभारत कालीन घटना क्रम यथा युधिष्ठिर का महाभारत पूर्व राज्यकाल, परीक्षित का जन्म, महाभारत का युद्ध तथा कालान्तर में नन्दाभिषेक का काल निर्धारण भी भारतीय कालविज्ञान के सहाय्य से सुगमता पूर्वक सम्भव है यह सप्तर्षि संवत् के विश्लेषण के समय हम जान चुके हैं।

७. वराहमिहिर का कालविषयक एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख है जैसा पूर्वत्र सप्तर्षि संवत् के परिप्रेक्ष्य में भी वर्णन किया है उक्त उल्लेख के अनुसार युधिष्ठिर के राज्यकाल में सप्तर्षि मघा नक्षत्र में थे। यह समय गणना के आधार पर ५१७४ वर्ष पूर्व अर्थात् ३१७७ ईसा पूर्व आता है। यहाँ पर युधिष्ठिर के शक संवत की सूचना मिलती है—

षड्द्विक्-पंचद्वियुतः शककालस्तस्यराज्ञः (वृह० १३.३)

इस प्रकार से युधिष्ठिर शक संवत् अर्थात् (३१४७-२५२६) ६२१ ख्रिस्त पूर्व में वराहमिहिर का स्थितिकाल सिद्ध होता है।

८. यजुर्वेद की काण्वशाखाके शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी लिखित श्रुतिविवृत्ति से ज्ञात होता है कि हरिस्वामी स्कन्दस्वामी के शिष्य थे तथा उज्जयिनी के राजा विक्रम ने उन्हें सोने का आसन प्रदान कर अपना धर्माध्यक्ष एवं दानाध्यक्ष बनाया था। हरिस्वामी ने कलियुग के ३०४७ वर्ष बीत जाने पर यह भाष्य लिखा था।

विवरण इस प्रकार है—

श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यातवान् शातपथीं श्रुतीम्।
भूभर्त्रा विक्रमार्केण क्लृप्ता कनकवेदिकाम्।
दानाध्यक्षाः य कृतवान् श्रुत्यर्थविवृत्तिं हरिः।
यदादीनां कलेर्जग्मुः सदा त्रिंशत् शतानि वै।
चत्वारिंशत् सभाक्षान्चाः तदा भाष्यमिदं कृतम्॥

इस प्रकार हरिस्वामी, स्कन्द स्वामी विक्रम के समकालीन सिद्ध होते हैं तथा उनका काल भी ३१०२-३०४७=५५ ईसा पूर्व सिद्ध होता है। ये वैदिक विद्वान् उसी विक्रम के समकालीन थे जिसने विक्रमी संवत् ५८ ईसा पूर्व प्रारम्भ किया। यही नहीं ज्योतिर्विदाभरण का लेखक कालिदास भी हरिस्तामी कालीन विक्रम के समकालीन था।

ज्योतिर्विदाभरण के उपनिबन्धन का उल्लेख करते हुए लेखक कहता है कि यह ग्रन्थ कलियुग के ३०६८ वर्ष व्यतीत हो जाने पर माधव अर्थात् वैशाख मास में लिखा गया, यथा—

वर्षे सिन्धुरदर्शनांबर गुणैः याते कलौ सम्मिते।
मासे माधव संज्ञिते च विहितो ग्रंथ क्रियोपक्रमः ।।

यह समय भी ३१०२-३०६८ = ३४ ई० पू० आता है । इससे यह बात और भी दृढ़ होती है कि ज्योतिर्विदाभरण का लेखक कालिदास अभिज्ञान शाकुन्तलादि का इतिहास प्रसिद्ध कालिदास नहीं था । अभिज्ञान शाकुन्तल का कालिदास को ज्योति विदाभरण के कालिदास ने विक्रम के नवरत्नों के मध्य परिगणित किया है, यथा--

धन्वन्तरि क्षपणक अमरसिंह शंकु जेतालभट्ट घटखर्पर कालिदासः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ।।

उपर्युक्त तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि नवरत्नों का विक्रम स्कन्ध स्वामी के विक्रम से भिन्न था । नवरत्नों से वराहमिहिर का वर्णन आता है तथा वराहमिहिर का काल ६५१ ख्रिस्ताब्द पूर्व सिद्ध किया जा चुका है इसी आधार पर नवरत्नों के विक्रम का काल भी ६५१ ख्रिस्ताब्द के आस-पास आयेगा ।

इन नवरत्नों में वररुचि का उल्लेख होने से प्रसिद्ध वैयाकरण वार्तिककार कात्यायन अर्थात् वररुचि का काल भी ख्रिस्ताब्द पूर्व सप्तम शताब्दी सिद्ध होता है तथा पतञ्जलि एवं पाणिनि का समय और भी प्राचीन हो जाता है ।

इस प्रकार से भारतीय कालगणना के यथावत् ज्ञान के बिना प्राचीन भारतीय इतिहास को कालक्रम में बान्धने का कोई भी प्रयास व्यर्थ जायेगा । कलियुगादि की तिथि निर्धारित होने से वराहमिहिर, धन्वन्तरि तथा हरिस्वामी आदि का काल भी अत्यन्त प्राचीन था यह ज्ञान होना कठिन नहीं होगा ।

१८

भारतीय कालगणना के परिप्रेक्ष्य में विश्व इतिहास का आकलन

जैसा कि पहले बताया जा चुका है भारतीय कालगणना के दो पहलु हैं ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एवं पृथिवी पर प्राणी सृष्टि का प्रारम्भ। पृथिवी की उत्पत्ति कब हुई, उसकी आयु कितनी है, पृथिवी पर प्राणी जीवन का प्रारम्भ कब और कहाँ हुआ ये सब ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर समय-समय पर विभिन्न धार्मिकों, दार्शनिकों, ज्योतिषियों एवं वैज्ञानिकों ने अपने-अपने ढंग से देने का प्रयास किया है। १७वीं शताब्दी के मध्य में ईसाई पादरी अशर (Usher) ने पृथिवी की उत्पत्ति का समय ईसा से ४००४ वर्ष पूर्व २२ अक्तुबर को प्रातः नौ बजे निर्धारित किया। लगभग उसी समय लाइटफुट ने भी अशर की गणना का समर्थन करते हुए पृथिवी की उत्पत्ति २६ अक्तूबर, ४००४ ई० पू० मानी। केवल चार दिन के अन्तर से पृथिवी की उत्पत्ति के विषय में मतभेद प्रदर्शित करने वाले ईसाई पादरियों की ये कल्पनाएँ कितनी हास्यास्पद एवं बचकाना हैं इसका अनुमान सहज लगाया जा सकता है। सम्भवतः इसी प्रकार की भ्रान्त धारणाओं से पीडित मैक्समूलर जैसे यूरोपीय विद्वान ऋग्वेद के रचनाकाल को १५०० ईसा पूर्व से पहले ले जाने का साहस न जुटा पाये। तथापि उनके द्वारा अनुमानित पृथिवी उत्पत्ति के काल से ऋग्वेद का रचनाकाल, जैसा उन्होंने निर्धारित किया, बहुत निकटवर्ती ठहरता है। अर्थात् पृथिवी उत्पत्ति के २५०० वर्ष बाद ही ऋग्वेद की रचना को वे स्वीकार करते हैं। वस्तुतः ईसाई जगत् का प्रादुर्भाव तो ईसा के जन्म से होता है। अतः उनकी कालगणना तो ईसा के जन्म से ही (१९९७ पूर्व) प्रारम्भ होती है। इसी प्रकार मुसलमानों की कालगणना हजरत मोहम्मद के जन्म (१४१६ वर्ष पूर्व) से प्रारम्भ होती है। इससे पूर्व का अपना अस्तित्व ईसाई एवं मुसलमान यहूदियों में देखते हैं। यहूदियों का काल ५७५८ वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होता है।

यही कारण था कि युरोपीय लोग १९वीं शताब्दी के मध्य तक यहूदी भाषा को संसार की प्राचीनतम भाषा मानते रहे। परन्तु यहूदियों का अस्तित्व ५७५८ वर्ष पूर्व से ही प्रारम्भ होता है। यह काल महाभारत युद्ध के आस-पास ठहरता है। उससे पूर्व का इतिहास यहूदियों को अज्ञात है। इसी प्रकार ईरानियों को

६००२ वर्ष तक का अस्तित्व स्मरण है। फिनीशिया के लोगों को ३०,००० वर्ष पूर्व से अपनी उपस्थिति का स्मरण है। तुर्कों को अधिक से अधिक ७६०४ वर्षों तक का काल स्मरण है। पारसी अपना अस्तित्व १,८९,९६४ वर्षों से जानते हैं। मिश्री उनसे भी बाद अर्थात् २८,६४४ वर्ष से अपने अस्तित्व को स्मरण रखे हुए हैं। चाल्डियन लोग २,१५,००,००० पूर्व पृथिवी की उत्पत्ति मानते हैं। खताई लोग अर्थात् हित्ति (Hittite) ८,८८,३८,३७० वर्षों से अपनी कालगणना बनाए हुए हैं। चीनी उनसे भी प्राचीन काल से ९,६०,०२,२९४ वर्षों से अपने अस्तित्व का कालक्रम स्मरण रखे हुए हैं। परन्तु भारतीयों के यहाँ तो कालगणना १,९७,२९,४९,०९८ वर्षों से चली आ रही है। एक अरब सत्तानवें करोड़ वर्षों से कालगणना के क्रम को देखकर सामान्यतया व्यक्ति विश्वास नहीं कर पाता कि काल का इतना दीर्घकालीन इतिहास भी हो सकता है। यही कारण है कि प्रारम्भ में तो विद्वानों ने इस गणना को पूर्णतया काल्पनिक माना तथा सम्प्रति भी ऐसा मानने वालों की संख्या कम नहीं है। वस्तुतः द्रष्टव्य तो यह है कि जो लोग काल की घड़ी पल आदि तक की सूक्ष्म से सूक्ष्म गणनाओं को करते आये हैं, भला वे इस प्रकार की काल्पनिक मान्यताओं में कैसे फंसे होंगे। जिन लोगों को प्रस्तुत कालगणना की प्रारम्भिक तिथि (कार्तिक शुक्ला द्वादशी को प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तर का प्रारम्भ) से लेकर विभिन्न उत्तरोत्तर प्राप्त हुए मन्वन्तरों की तिथियों का स्मरण यथावत् हो तथा जिन्होंने इस कल्प के अन्तिम भौत्यक (इन्द्रसावर्णि) मन्वन्तर की प्रारम्भ तिथि—ज्येष्ठ पूर्णिमा को परिगणित कर लिया हो, भला उनका यह उद्योग पागलपन कैसे कहा जा सकता है।

यही नहीं सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक जैसा काल का इतिहास संकल्पों के माध्यम से सुरक्षित रखा गया है। सम्पूर्ण भारतवर्ष ही नहीं प्रत्युत भरतखण्ड में सर्वप्रथम उत्पन्न होकर वैदिक लोग कालान्तर में पृथिवी के जिन-जिन खण्डों पर जाकर बसे वे अपने साथ अन्य सांस्कृतिक, भाषाई एवं वैज्ञानिक विरासत के साथ-साथ कालगणना को भी विरासत के रूप में लेकर गये। तथा अद्य पर्यन्त उनके यहाँ इसी शाश्वत वैदिक कालगणना के अंश किसी न किसी रूप में स्मृति में है। उदाहरणतया १,८९,९६४ वर्ष पूर्व भारत से चलकर ईरान में बसे पारसी नामधारी वैदिकों का विश्वास है कि संसार का स्थितिकाल १२,००० वर्ष है। वस्तुतः यह संख्या १२,००० देव वर्षों की ओर संकेत करती है क्योंकि जेन्द भाषा में भी मनुष्यों के एक वर्ष को देवताओं के एक दिन के बराबर माना गया है।

यह वैदिकी मान्यता है। जैसा कि पहले भी बता चुके हैं तै० ब्रा० ३.९.२२ में लिखा है **एकं वा एतद्देवानामहः यत्संवत्सरः**। उसी प्रकार अवेस्ता में भी **त**

एच अयर मइन्यन्ते यतयरे अर्थात् ते च अहरं मन्यन्ते यद्वर्षम्– इसी वेदोक्ति का स्मरण यथावत् रखा गया है। भारतीय कालगणना के अनुसार १२००० देववर्ष अर्थात् १२००० x ३६० =४३,२०,००० वर्षों का एक महायुग होता है। कल्पाब्द निकालने के लिये उपर्युक्त पारसियों के १२००० देव वर्षों =४३,२०,००० मानव वर्षों पर केवल तीन शून्य रखने की आवश्यकता है।

इसी प्रकार बेबिलोनिया एवं स्कन्दनेविया (स्केंडिनेविया) में जाने वाले भारतीयों ने अपनी प्राचीन कालगणना के कुछ अंशों को अब तक स्मरण रखा है। यथा हमारे सूर्यसिद्धान्त में दस स्वर का एक श्वास, छः श्वास की एक विनाड़ी, साठ विनाड़ी की एक नाड़ी और साठ नाड़ी का एक दिन लिखा है। बेबिलोन के प्रवासी भारतीयों ने इस श्वास, स्वर और नाड़ी की गणना का अद्यावत् स्मरण रखा है। वे श्वास की गिनती सास से, स्वर की सर से तथा नाड़ी की नेर से करते हैं। सास ६०, नेर ६०० तथा सर ३६०० वर्षों का होता है। राबर्ट ब्राउन के अनुसार सूर्यवंशी राम १० बेबिलोनियाँ के राजाओं में सबसे पहले आता है। जिन्होंने १२० सर अर्थात् ३६०० x १२० =४,३२,००० वर्ष राज्य किया। इस प्रकार लगता है कि बेबिलोनिया में राम के अनुयायी गये होंगे। (शामशास्त्री, *Annals of Bhandarkar Institute* vol. IV, Part I, July 1922) स्केंडिनेविया नाम भी कार्त्तिकेय के आधार पर पड़ा है। कार्त्तिकेय का नाम स्कन्द था। इस विषय में रामायण बालकाण्ड सर्ग ३७ का **स्कन्द इत्यबरुवन्देवाः स्कन्दं गर्भपरिस्रवे** इत्यादि कार्त्तिकेय की उत्पत्ति सम्बन्धि प्रकरण विस्तार से प्रकाश डालता है कि कार्त्तिकेय का नाम ही गर्भस्राव होने से स्कन्द हुआ था। कार्त्तिकेय सेनापति था तथा रोहितक में उसका शासन था। **कार्त्तिकेयस्य दयितं रोहितकम** इत्यादि रोहतक में हुई खुदाई में प्राप्त मोहरों पर अंकित भी मिला है। स्केंडिनेविया (स्कन्दिनेविया) में भी स्कन्द युद्ध देव माना जाता है।

Skand the God of war reigns there (Scandinavia)

(*Theogony of the Hindus*, पृ० १०९)

अतः सिद्ध है कि कार्त्तिकेय के अनुयायी भारत से स्कन्दनेविया गये होंगे। तथा उन्होंने अपने सेनानायक के नाम पर प्रस्तुत भूखण्ड का नाम स्कन्दनेविया रखा। यही नहीं उन प्रवासी भारतीयों ने आजतक भी प्राचीन भारतीय कालगणना की कलियुग वर्ष संख्या (४,३२,०००) को सुरक्षित रूप से स्मरण रखा है– एतद्विषयक *Theogony of Hindus*, पृ० १०७ एवं १०८ पर उद्धृत निम्न कथन द्रष्टव्य है–

According to the Edda, Walhall has 450 gates, if this number be multiplied by 800, the number of Einheriers who can march out abreast from each gate, the product will be 4,32,000 which form the very elementary number for the so frequently named ages of the world or *Yugas*, adopted both in the doctrine of *Brahman* and Buddha, of which the one now in course will extend to 4,32,000 years, the three preceding ones corresponding to the numbers multiplied by 2, 3 and 4. Five hundred and forty doors, I believe to be in Walhall. Eight hundred Enheriers can go out abreast when they are to sight against the ulfven (the wolf). Here is meant the fatal encounter with Fenris ulfven at the end of the world, when odin, at the head of 4,32,000 armed Einheriers take the field against them.

यहाँ पर जलप्लावन की कथा का निर्देश करना असंगत न होगा। यह जल प्लावन ही वस्तुतः भारतीयों के विभिन्न दिशाओं में निर्गमन का संकेत देता है। जलप्लावन की यह कथा मिश्र, बेबिलोन, सीरिया, चाल्डिया, जुड़िया, फारस, अरब ग्रीस, चीन और अमेरिका आदि समस्त संसार के देशों में पाई जाती है। वस्तुतः समय-समय पर आने वाले जलप्लावनों ने ही प्राचीन भारतीयों को भिन्न-भिन्न सुरक्षित भूखण्डों पर प्रसरण के लिये बाध्य किया। करोड़ों वर्षों के भारतीय इतिहास में निकटतम जलप्लावन का वर्णन वैवस्वत मन्वन्तर में मिलता है। वैवस्वत मन्वन्तर का प्रारम्भ आज से सही १२ करोड़ ५ लाख ३३ हजार ९८ वर्ष पूर्व हुआ था। उस समय भारत की स्थिति लगभग ४२ से २४ अक्षांश के मध्य दक्षिण गोलार्द्ध में थी। यह तथ्य वर्तमान समय में हुए भौगर्भिक अनुसन्धानों, (Plate tactonics एवं Continental drift theories) जिनका प्रतिपादन वैदिक कर्मकाण्ड में भी हुआ है, से प्रतिपादित हुआ है। यही नही सृष्टि के ऐतिहासिक तथ्यों का संरक्षण करने वाली भारतीय पुराण परम्परा में भी इस तथ्य का स्पष्टतया उल्लेख मिलता है, जैसा कि वायुपुराण ५०.८८ में लिखा है—

दक्षिणेन पुनर्मेरो मानसस्य च मूर्द्धनि।
वैवस्वतो निवसति यमः स यमने पुरे॥

अर्थात् मेरु (उत्तरी ध्रुव से दक्षिणध्रुव को मिलाने वाली भूरेखा) के दक्षिण में तथा मानस (अर्थात् टिथीज सागर) की मूर्द्धा पर वैवस्वत यम का यमनपुर में निवास है उपर्युक्त भौगोलिक कोड की व्याख्या द्वारा लेखक ने अपने ग्रन्थ *Geological Code of Vedas* में इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला है। (इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अभी कुछ समय लगेगा) यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि वैवस्वत मनु की स्थिति यमलोक अर्थात् दक्षिण ध्रुव के निकट थी। यही कारण

है कि वैवस्वत मनु को यम (दक्षिण का वासी कहा गया है) यही नहीं भारतीयों के संकल्प में **मेरोर्दक्षिणभागे भारतवर्षे जम्बुद्वीपे भरतखण्डे** इत्यादि पाठ भी भरत खण्ड को जम्बुद्वीप के नाम से एवं मेरु के दक्षिण भाग में स्थित बताता है । वस्तुतः प्रस्तुत संकल्प में भारत की करोड़ों वर्ष पूर्व की भौगोलिक स्थिति को यथावत् स्मरण रखा गया है जब भारत दक्षिण ध्रुव के निकटवर्ती था तथा चारों तरफ से सागरों से घिरा था (पूर्व में प्रशान्त महासागर, पश्चिम में सिन्धु सागर, दक्षिण में हिन्द महासागर एवं उत्तर में मानस सागर जो प्रायः मानस या मानसरोवर झील के नाम से विख्यात है तथा आधुनिक भूगर्भशास्त्री जिसे टिथीज सागर कहते हैं) । अतः जम्बु द्वीप कहलाता था ।

अब यहाँ पर यह बता देना भी आवश्यक है कि प्राचीनतम काल से भारत भी समय-समय पर अन्य भूभागों की भाँति हिमाच्छादन एवं हिम प्रवाह से प्रभावित होता रहा है । हिमाच्छादन ने इस भूखण्ड के प्राकृतिक सौन्दर्य को द्विगुणित किया है जिसके कारण इसका स्मरण हिमवान्, हिमवत, हिमालय आदि नामों से होता रहा है । महाभारत में लिखा है– **हिमालयाभिघानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः** अर्थात् मेरु पर्वत का यह भूखण्ड हिमालय नाम से संसार में प्रसिद्ध है । वस्तुतः हिमालय पर्वत की उत्पत्ति तो कालान्तर में हुई है, जैसा कि भौगर्भिक अनुसन्धानों से ज्ञात हुआ है । यह पर्वत हिमाच्छादित होने वाले प्रदेश में उत्पन्न हुआ अतः इसका नाम भी हिमालय पर्वत पड़ा । कुछ लोग हिमालय को ही मेरु मानते हैं । वस्तुतः वे वैदिक भौगोलिक एवं भौगर्भिक कोड से नितान्त अपरीचित हैं । अत एव इस प्रकार की धारणा रखते हैं । उत्पत्ति की प्रारम्भिक अवस्था में उत्तर से दक्षिणीध्रुव को मिलाने वाला पार्थिव भाग ही सर्वप्रथम बना । उसी पार्थिव भाग को मेरु कहा गया ।

यह मेरु शब्द ही कालान्तर में मरु शब्द का पर्याय बना है । मेरु का अर्थ भी मिट्टी है । पृथिवी के निरन्तर अपने अक्ष के गिर्द घुमते रहने से उत्तर से दक्षिण की ओर फैला हुआ यह मेरु केन्द्र की ओर आकृष्ट होकर एवं सिकुड़ कर पूर्व पश्चिम की ओर भी उभरा । इसे ही पुराणों में कमल की उत्पत्ति कहते हैं । वस्तुतः यह मेरु ध्रुव प्रदेश ही था । भारत की जब स्थिति ध्रुव के पास थी तब मेरु ही सब रत्नों एवं ओषधियों का आधार था । अब भारत ध्रुवीय प्रदेश से हट कर सुदूर उत्तर में आ गया है । अतः अब मेरु से दूर चले जाने पर एवं उससे हिमालय पर्वत के उत्पन्न हो जाने पर हिमालय को मेरु का स्थानापन्न माना जाने लगा । कालान्तर में तो हिमालय की ही मेरु नाम से प्रसिद्धि हो गई ।

भौगर्भिक अनुसन्धानों से भी ज्ञात होता है कि १२ करोड़ वर्षों के आस-पास मैसोजोइक युग में अन्टार्कटिका एवं टिथीज सागर के दक्षिण में स्थित गोंडवाना लैण्ड (जिसमें भारतीय भूखण्ड सम्मिलित था) की जलवायु उष्णता को प्राप्त हो गई थी अतः हिम तथा हिमनद पिघलने से जलस्तर ऊँचा हो गया तथा जलप्लावन से भयावह आतंक फैल गया। वैवस्वत मन्वन्तर के इस जलप्लावन से घबरा कर बहुत सी मनुसन्तानें मेरु के उत्तर की ओर प्रसर्पण कर गई। शतपथ ब्राह्मण १.८.१.६ में स्पष्ट लिखा है कि– **'तदप्येतदुत्तरस्य गिरेः मनोरवसर्पणम्'** अर्थात् जलप्लावन के कारण इस मेरु पर्वत के उत्तर में मनुसन्तानों का अवसर्पण (गमन) हुआ। कारण स्पष्ट था कि जिस समय दक्षिणी गोलार्द्ध हिमाच्छादित था उस समय उत्तरी गोलार्द्ध शुष्क मरुस्थल था।

अतः जलप्लावन के भय से लोगों ने उत्तर की ओर विसर्पण किया। महाभारत वनपर्व (अ० १८७) में भी जलप्लावन के समय हिमनदों में नौकाचालन का वर्णन मिलता है, यथा– **अस्मिन् हिमवतः शृंगे नावं बध्नीत मा चिरम्।** अर्थात् मनुसन्तानों ने शीघ्र हिमनदों के शृंगस्थानों पर नावों को बान्ध लिया। उत्तर की ओर से यह प्रसर्पण जिस भूखण्ड पर हुआ वह भूखण्ड मनोरवसर्पण के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यदि हम उस समय भारत को ४२ से २४ अक्षांश दक्षिण में लेते हैं तो ऊपरी चीन के मानचुरिया तथा मंगोलिया की स्थिति १० अक्षांश उत्तर में जाती है। अतः इन दोनों स्थानों पर ही विसर्पण की सम्भावनाएँ दृष्टिगोचर होती है। मंगोलिया तथा मानचुरिया दोनों ही स्थान 'मनोरवसर्पण' का भी प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते हैं। चीन की कालगणना भी ९ करोड़ ६० लाख २ हजार २९५ वर्ष पहले से प्रारम्भ होती है। चूंकि ये वैदिक लोग काल का परिगणन पहले से कर रहे थे। अतः उन्होंने उसी शृंखला में अपने नये भूखण्ड पर प्रसर्पण के इतिहास को सुरक्षित रखने के लिये नई कालगणना का प्रारम्भ किया। इससे इस तथ्य पर भी भरपूर प्रकाश पड़ता है कि जलप्लावन वैवस्वत मन्वन्तर प्रारम्भ होने से लगभग ३ करोड़ वर्ष बाद भी रहा था। इस जलप्लावन की घटना की स्मृति आज भी चीनी कथाओं में है।

वस्तुतः मंगोल, तातार तथा चीनी चन्द्रवंशी क्षत्रिय थे। इस विषय में टाड हन्टर का मत उल्लेखनीय है। मंगोल, तातार और चीनी लोग अपने को चन्द्रवंशी क्षत्रिय बतलाते हैं। इनमें तातार लोग अपने को अय का वंशज कहते हैं यह अय पुरुरवा का पुत्र आयु ही है। इस आयु के वंश में ही यदु था और उसका पौत्र हय था। चीनी लोग इस ह्य को ह्यु कहते हैं और अपना पूर्वज मानते हैं।

चीन के अनन्तर हमारे पास दूसरा प्राचीनतम कालखण्ड खता अर्थात् हित्ती (Hittite) का उपलब्ध होता है जो कि ८ करोड़ ८८ लाख ३८ हजार ३७० वर्ष पुराना है। यदि हम भौगोलिक दृष्टि से ८ करोड़ वर्ष पहले के भौगर्भिक एवं भौगोलिक स्थिति का जायजा लें तो मालुम होगा कि यह समय भौगर्भिक टर्शेरी कल्प के इओसीन युग से सम्बन्ध रखता है। इओसीन युग में भारत २५° अक्षांश से ४०° के मध्य दक्षिण में था तथा हित्ती की स्थिति भूमध्य रेखा पर २५° देशान्तर के मध्य पश्चिम के करीब थी। संक्षेप में कह सकते हैं कि हित्ती जो आज वेस्टइण्डीज में १९° अक्षांश उत्तर तथा ७२° देशान्तर पश्चिम में है, भारत के काफी निकटस्थ था। इओसीन युग में युरोप महाद्वीप में इंग्लैण्ड से लेकर ग्रीनलैण्ड तक उष्ण कटिबन्धीय जलवायु के संकेत मिलते हैं तथा अटलांटिक सागर का कुछ विस्तार हुआ था, तथापि दक्षिण अमेरिका का कुछ भाग पूर्व में अफ्रीका महाद्वीप से तथा उत्तर में उत्तरी अमेरिका से सटा हुआ था।

इधर भारतवर्ष में हिमालय की रचना प्रारम्भ हो गई थी। अतः मानस सागर अथवा टिथीज सागर के क्षेत्र में भौगर्भिक उपद्रव उत्पन्न होने एवं जल के इधर-उधर फैलने से मानस के पास रहने वाले भारतीयों का पुनः निर्गमन हुआ। इस बार वे हित्ती में पहुँचे। इन्हें खत्ती कहा जाता है। खत्ती क्षत्री का ही अपभ्रंश रूप है। खत्ती या क्षत्री शब्द से यह भी ज्ञात होता है कि भारत की सीमाओं का अतिक्रमण करने वाले ये लोग अवश्य ही क्षत्रिय वर्ण से सम्बद्ध रहे होंगे। एशिया माइनर के बोगाज़कोई में १९०७ में खुदाई के समय प्राप्त ईंटों में मितानी (मैसोपोटामियन) एवं हित्ती राजाओं का जो इकरारनामा लिखा हुआ मिला है उसमें वैदिक देवों मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्य आदि की स्तुति की गई है। इससे भी यह ज्ञात होता है कि हित्ती एवं मितानी लोग भारत से गये क्षत्रिय वंशज थे।

इओसीन युग के बाद हमें विश्व इतिहास में जो काल तिथि प्राप्त होती है वह है चाल्डिया वालों द्वारा पृथिवी की उत्पत्ति का समय जो कि २ करोड़ १५ लाख वर्ष है। यह समय मायोसीन युग माना जाता है। वस्तुत वैवस्वत मन्वन्तर के प्रारम्भ में, अर्थात् क्रिटेशस युग में, जैसा कि भौगर्भिक अनुसन्धानों से ज्ञात होता है, भारत के दक्षिण पठार पर ५ लाख वर्ग कि०मी० क्षेत्र में लावा फैल गया था। लावा ठण्डा होने पर मायोसीन युग में अर्थात् लगभग २ करोड़ १५ लाख वर्ष पहले भारत के दक्षिण भाग में भी वैश्य जातियाँ, जिनको 'पणि' का विशेषण दिया गया, आबाद हुई। उन्होंने दक्षिण में जाकर पण्य अर्थात् पाण्ड्य नगर बसाया। वस्तुतः पणि लोग वैश्य थे जो कि आसुरी वृत्ति वाले थे। वस्तुतः वैदिक भाषा में

पणि के विशेषण के रूप में अक्रतू (बदमाश), ग्रथि (गिरहकट), मृध्रवाच (झूठा) तथा अश्रद्ध (अविश्वसनीय) आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

अक्रतून ग्रथिनः मृध्रवाचः अश्रद्धान् पणीन् (ऋ० ७.६.३)

इससे पणि स्वभाव के लोगों पर प्रकाश पड़ता है। इसी धन लोलुप गिरोह की एक शाखा चोर थी जो कि दक्षिण में इन्हीं के निकट बसी तथा चोल प्रदेश आबाद किया। ये पणि बहुत लोभी और बड़े व्यापारी भी थे। ये समुद्र के किनारे रहने वाले थे अतः समुद्री यात्रा करके ये लोग धन की खोज में ३०,००० वर्ष पहले, जैसा कि फिनीशिया वालों की स्मृतियाँ हैं, पश्चिमी एशिया पहुंचे तथा मेडिटेरेनियन समुद्र के किनारे पर आबाद हुए। इन्होंने वहाँ प्युनिक प्रदेश की स्थापना की जो कि पणिस्थान होने से कालान्तर में फिनीशिया कहलाया। फिनीशिया से पणि शब्द रोम में भी पहुँचा जहाँ बिगड़ कर यह Poeni तथा Punicus बन गया। लैटिन में Poeni तथा Punicus का अर्थ है carthaginians। लैटिन से यह शब्द अंग्रेजी में Punic के रूप में अधिगृहीत किया गया जिसका अर्थ चेम्बर्स डिक्शनरी में इस प्रकार लिखा है— Punic-Pertaining to or like the ancient carthaginians: faithless, treacherous, deceitful. वेद से अंग्रेजी भाषा तक लाखों वर्षों के इतिहास में भी इस शब्द का अर्थ बिल्कुल यथावत् सुरक्षित रहा, यह कितने आश्चर्य की बात है। सकबर्ग (Suckburgh) नामक रोमन इतिहासकार लिखता है: The Roman words poeni and Punicus are corruptions of phoenix and Phoenician.

जिस प्रकार पणियों ने फिनिशिया बसाया उसी प्रकार इनके दूसरे दल चोलों ने चलकर चाल्डिया प्रदेश को आबाद किया। बेबिलोनिया में वायु के लिये **मतु** या **मर्तु** शब्द का प्रयोग किया जाता है जो कि वैदिक शब्द मरुत का ही अपभ्रंश है। बेबिलोन में इस शब्द का परिचय भारतीय पणियों (पाण्डयों) एवं चोलों ने करवाया इस तथ्य को स्वीकारते हुए *Historical History of the World* का लेखक (Vol. I, P. 89) कहता है— The name of the Babilonian storm-God was *Matu* or *Martu* which, as we have seen, was the same as the Vedic *Marut* and must have been taken by the *Panis* and Cholas to Babylonia.

चाल्डिया में बसे चोलों ने तो वहाँ पहुंचने के समय के इतिहास को भी गणना द्वारा सुरक्षित रखा। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने अथर्ववेद और चाल्डियन

वेद के कई शब्दों का मिलान करके बतलाया है कि दोनों की भाषा एक दूसरे से मिलती है— यथा

	संस्कृत	चाल्डियन	अर्थ
	सिनीवालि	सिनवुव्वुलि	अमावस्या
	अप्सु	अब्जु (ज़ुअब)	पानी
	यह्व	यहवे	महान्
	ऋतु	इतु	मौसम
	परसु	पिलक्कु, बलमु	शस्त्र
अलिगीविलगी (अथर्व० ५.१३.७)		विलगी (असीरिया भाषा)—	सर्पदेव
	तैमात	तिआमत	देवता
	उरुगुला	उरुमुल (अकेडियन)	देवता[१]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट होता है कि चाल्डियन चोलों का सम्बन्ध अथर्ववेद से रहा है। वहाँ पर बसे चाल्डियन लोगों को आज तक भी भारतीय दक्षिण-भूभाग के निवास योग्य बनने का काल अर्थात् २ करोड़ १५ लाख वर्ष पृथिवी की उत्पत्ति के काल के रूप में स्मरण है। *Age of the Earth* का लेखक इस विषय में लिखता है।

According to the same remarkable system the earth had already existed for 215 myriads (a myraid of 10000) years. (P.3)[२]

भारत के दक्षिण भूभाग पर जैसा कि चाल्डियाँ वालोंकी स्मृति से ज्ञात होता है, लगभग वैवस्वत मन्वन्तर के २२वें महायुग में मानवों का निवास प्रारम्भ हुआ। यही नहीं चाल्डिया वालों को द्वापर युग की ४ लाख ७० हजार वर्ष पुरानी एक और काल संख्या का स्मरण है जो कि किसी खगोलीय पर्यवेक्षण से प्रारम्भ होती है।

चाल्डिया तथा फिनीशिया के लगभग दो हजार वर्ष बाद अर्थात् द्वापर के अन्तिम चरण में भारतीयों के मिश्र में जाने के संकेत मिलते हैं। मिश्रगत भारतीयों ने अपने मिश्र में पदार्पण के काल को अपनी २८,६४९ वर्ष पुरानी कालगणना में स्मरण रखा है। मिश्र की भाषा के शब्दों की वैदिक शब्दों के साथ अद्भुत समानता इस तथ्य को दृढ़ करती है कि मिश्र को भारतीयों ने ही आबाद किया।

---

१. वैदिक सम्पत्ति, रघूनन्दन शर्मा

२. तत्रैव

यथा कुछ शब्दों को नीचे उद्धृत किया जाता है–

संस्कृत	मिश्र भाषा	अर्थ
आदि	आत	आरम्भ
अक्ष	अख	देखना
आत्मा	आत्मु	सृष्टि
दिव (तेज)	तेप	आकाश
नर	न्रा	मनुष्य
उषा	उषा	प्रातः काल
क	क	आत्मा

विद्वानों का विचार है कि मिश्री लोग भी पणि ही थे जो कि पान्त अथवा पाण्ड्य देश से ही गये। उदाहरणतया *Historical History of the World* Vol. I. p.77. द्रष्टव्य है–

It seems probable that they came from the land of Pant, the south of red sea, and they may have been a branch of the Punic race in its migration from the persian gulf round by sea to the Mediterranean.

प्रो० हीरेन ने खोपड़ियोंके परीक्षण के आधार पर भी सिद्ध किया कि मिश्र निवासी भारतीय ही थे, यथा–

Heeran was prominent in painting out an analogy between the form of skull of the Egyptian and that of Indian races. He believed in the Indian origin of Egyptian (*Historical History of the World* P. 77)

वस्तुतः छान्दोग्य उपनिषद् में ऐसे असुरों का उल्लेख मिलता है जो कि अपने मृतक लोगों के पार्थिव शरीरों को सजाते थे।[१]

ये असुर और कोई नहीं थे अपितु पश्चिम एवं दक्षिण में रहने वाले असीरिया मिश्र तथा पश्चिम एशिया में बसे भारतीय ही थे मिश्र के पिरामिडो की कब्रों में नील का रंग लगा मिला है तथा मुर्दों को गाड़ने में इमली की लकड़ी काम में लाई गई है। ये दोनों ही पदार्थ संसार में केवल भारत वर्ष में होते हैं यही कारण

---

१. द्रष्टव्य *History of Sanskrit Lit*. by C.V. Vaidya Vol.II. P. 221

है कि नील को 'इण्डिगो' कहते हैं जिसका अर्थ है भारतीय तथा इमली को टेमेरिण्ड कहते हैं जो कि तमरे हिन्द का ही अपभ्रष्ट रूप है। (रघुनन्दन पृ० ३८)

इससे स्पष्ट सिद्ध होता कि ये दोनों चीजें भारत से वहाँ जाती थी। तथा जिस नदी से नील का व्यापार मिश्र में होता था उसका नाम ही नील था जो वहाँ अब भी नाइल के नाम से प्रसिद्ध है। वस्तुतः भारतीयों ने ही उसका नामकरण किया होगा। इस सन्दर्भ में *Ency. Brit*. Vol. VII. पृ० ७०५ भी द्रष्टव्य है।

The Greek and Roman name Neilos is certainly not traceable either of Egyptian names of the river nor does it seems philologically connected with the Hebrew ones. It may be like 'schichor' indicative of the colour of the river, for we find in Sanskrit *Nila*. 'blue' probably especially 'dark-blue' also even black as *Nila panka* black mud.

इसके अतिरिक्त वहाँ के स्थानों के नाम भी शिव और मेरु आदि हैं। जो कि भारतीय मूल के हैं। वहाँ माशा, सिलक, मन आदि वजन सम्बन्धी शब्द भी प्राचीन भारतीय हैं (द्रष्टव्य हिन्दी विश्वकोष, उपनिवेश शब्द) यही नहीं मिश्रनिवासियों को अपने सूर्यवंशी तथा मनु की सन्तान होने का स्मरण भी है।

The reader will not readily forget the renowned city of the Sun, Helispolis, nor 'Menes' the first Egyptian king of the race of the Sun, the *Manu Vaivasvat* of Patriarch of the solar race, nor the statue that of the great Menoo, whose voice was said to salute the rising sun (*India in Greece*, p. 178)

मिश्र के अनन्तर प्राचीनतम संवत तुर्कों का प्राप्त होता है जो कि ७६०३ वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होता है। यह तुर्की संवत भी तुर्कीस्तान में भारतीयों के गमन की ओर संकेत करता है जो कि स्पष्टतया महाभारत युद्ध से लगभग २००० वर्ष पूर्व हो चुका था।

Lassen's Indische Alterthumskunde का लेखक लिखता है—

It appears very probable that at the dawn of history East Turkistan was inhabited by an Arya population.

तुर्की में भारतीय दल का दूसरी बार गमन महाभारत युद्ध से ७०० वर्ष बाद अर्थात् ४२८७ वर्ष ख्रिस्ताब्द पूर्व हुआ। जिसकी सूचना वहाँ के दूसरे संवत से मिलती हैं।

इसी प्रकार महाभारत युद्ध से ७०० वर्ष पूर्व यदुवंशीयों की एक शाखा आधुनिक सीरिया में पहुँची। उन्होंने इस भूखण्ड का नाम याद्विया रखा जो कालान्तर में युड़िया होकर जुड़िया बन गया। तथा वहाँ पर जाकर बसे यदुवंशी कालान्तर में यहूदी बन गये। इस सन्दर्भ में *India in Greece* (P.22) के लेखक पोकाक का मत भी ज्ञातव्य है, उसका कथन है–

The tribe of Yudha is, in fact, the very *Yadu* of which considerable notice has been taken in my previous remarks.

पुराणों से ज्ञात होता है कि राजा सगर ने कुछ क्षत्रियों को यवन करके निकाल दिया था तथा उन्होंने सागर की आज्ञा से पल्ली स्थान में निवास किया था वही बाद में पेलेस्टाइन हुआ। सम्भवतः सगर ने यदुवंशियों को ही निर्वासित किया होगा। यही बात बाइबल और पोकाक के वचनों से सिद्ध होती है। बाइबल का नूह का वर्णन भी मनु की ओर संकेत कहता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि अवश्य ही यहूदी यदुवंशी होंगे जिनको वैवस्वत मनु के तुफान की स्मृति थी।कालान्तर में इन्हीं यहूदियों में हजरत मूसा और हजरत ईसा जैसे जगत्प्रसिद्ध धर्माचार्य उत्पन्न हुए।

यहाँ पर यह बताना आवश्यक है कि बाइबल के पुराने अहदनामे में नूह से समस्त मनुष्य जाति की उत्पत्ति बतलाई है। वह उसी मनु वैवस्वत की ओर संकेत करती है, परन्तु जो आदम से नूह तक ११ पीढ़ियाँ तथा नूह के पुत्र शेम से इब्राहिम तक ११ पीढ़ियों का उल्लेख है वह सर्वथा काल्पनिक है। वस्तुतः नूह की दो सन्तानें हेम तथा शेम थी। शेम तथा हेम से समस्त संसार की उत्पत्ति हुई। शेम से उत्पन्न होने वालों को सेमिटिक लोग कहा गया तथा उनकी भाषा को भी सेमिटिक भाषाएँ कहा गया। इसमें अरब, बेबिलोन, सीरिया, जुड़िया के यहूदी आदि सम्मिलित हैं। उसी प्रकार हेम से उत्पन्न लोगों के हेमिटिक कहा गया तथा उनकी भाषाओं को भी हेमिटिक वर्ग में रखा गया। हेम की सन्तानें मिश्र में रहती हैं तथा मिश्री भाषा भी हेमिटिक वर्ग की मानी जाती है। वस्तुतः नूह के हेम तथा शेम कुछ भी नहीं थे, अपितु वैवस्वत मनु की ही सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी सन्तानें थी।हेम वर्ण सूर्य का द्योतक है तथा सोम (शेम) चन्द्र का। जहाँ-जहाँ ये सूर्यवंशी क्षत्रिय गये वे ही कालान्तर में हेमवंशी तथा जहाँ-जहाँ सोम (चन्द्रवंशी) गये तत्-तत् स्थानों के लोग शेम कहलाए। इस प्रकार से हम देखते हैं कि विश्व के विभिन्न देशों की कालगणनाएँ विश्व के इतिहास में सर्वप्रथम

भारतवर्ष में जन्मे मानव के विभिन्न स्थानों पर प्रसर्पण के इतिहास की शृंखला की विभिन्न कड़ियाँ हैं। हम इन कड़ियों के आधार पर समस्त विश्व के अखण्डित इतिहास के कालक्रम को सुनिश्चित रूप से व्याख्यात कर सकते हैं।

भारतीय कालगणना की प्राचीनता के आधार पर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि पृथिवी पर मानव सर्वप्रथम भारतीय भूखण्ड पर ही पैदा हुआ तथा भारत से बाहर समय-समय पर निर्गमन करता हुआ समस्त भूमण्डल पर फैल गया।
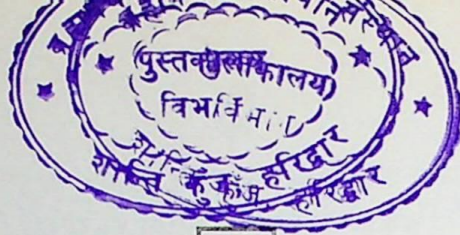
भारतीय कालगणना के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक भौगर्भिक इतिहास का आकलन

भारतीय कालगणना प्राचीन ऋषियों के बुद्धि विलास को प्रकट नहीं करती अपितु सम्पूर्ण जीवन के पार्थिव इतिहास का कालक्रम निर्धारित करती है। ऋषियों ने अत्यन्त परिश्रम एवं सुरक्षा से इस काल के इतिहास को परम्परा में जीवित रखा है ताकि यह पृथिवी पर भावी पीढ़ियों का मार्गदर्शन करता रहे। सम्प्रति यावत् भारतीय विद्वानों की परम्परा में इस इतिहास का संवर्द्धन एवं परिवर्द्धन हुआ है। हमें पृथिवी के भौगर्भिक इतिहास के विभिन्न सोपानों का अध्ययन नवनिर्मित भौगर्भिक महाकल्पों अथवा युगों में न करके हिन्दुओं द्वारा पुराकाल से परिगणित युगावधियों में करना चाहिए। अब हम नीचे विभिन्न भौगर्भिक महाकल्पों तथा युगों को हिन्दुओं द्वारा प्रतिपादित कालावधियों में रूपान्तरित करके पार्थिव इतिहास का आकलन करेंगे।

आधुनिक भूगर्भशास्त्रियों के भौगर्भिक अनुसन्धानों के आकलन के आधार पर विभिन्न मन्वन्तरों का पार्थिव इतिहास, पृथिवी उत्पत्ति से प्रारम्भ करके वर्तमान समय तक पाँच महाकल्पों तथा १७ युगों में विभाजित है।

स्वायम्भुव से रैवत मन्वन्तर ३०वीं महायुगी

आद्यकल्प– इस अवधि में भूपटल ठंडा हुआ। तथा भूपटल पर लावा के प्रवाह से विभिन्न शैलों का निर्माण हुआ। इस कल्प में वनस्पति तथा जीवों का पूर्ण अभाव माना जाता है तथा महासागरों का जल भी मीठा था, ऐसा अनुमान लगाया गया है। यह कल्प भौगर्भिक उथल-पुथल का कल्प कहा जाता है जिसमें व्यापक वर्षा से पैन्जिया नामक प्राचीन विशाल भूखण्ड लारेन्शियल शील्ड, बाल्टिक शील्ड, अगारालैण्ड एवं गोण्डवानालैण्ड नामक चार भूखण्डों में विभक्त हुआ। इस कल्प में होने वाली भौगर्मिक उथल-पुथल एवं प्रकुपित लावे से निर्मित पर्वतों के प्रकोप को व्यापक वर्षा से उसके शान्त होने की दशा का वर्णन ऋग्वेद में इस प्रकार किया है।

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंह्यः पर्वतान्प्रकुपितान् अरम्णात्

यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो धाम स्तभनात्स जनास इन्द्रः (२.१२.२)

अर्थात् इन्द्र ने (वर्षा द्वारा) भौगर्भिक उथल-पुथल को दृढ़भूमि किया । प्रकुपित पर्वतों अर्थात् भयंकर वर्षा करने वाले मेघों को शान्त किया तथा पृथिवी के सम्पूर्ण वायुमण्डल (Ozone Layer) का निर्माण किया ।

इस प्रकार से वैदिक ऋषियों ने स्थिति का साक्षात् वर्णन किया है । इस कालावधि को भुवैज्ञानिकों ने आद्यकल्प (Eozoic era) की संज्ञा दी है । वस्तुतः भारतीय गणना तो १९७ करोड़ वर्ष से ही प्राणी की उत्पत्ति का समर्थन करती है तथा प्राणीशास्त्र की भी शोधें १५० करोड़ वर्ष पूर्व तक जीवन संचार की पुष्टि करती हैं । वस्तुतः १९७ करोड़ वर्ष पहले पृथिवी के भारतीय भूभाग पर या कहें कि गौंडवानालैण्ड पर तो जीवन का प्रारम्भ हो चुका था । अन्य भूभागों पर लावे से उथल-पुथल तथा पर्वतनिर्माण की प्रक्रिया चल रही होगी । इसी का साक्षात् वर्णन, वैदिक ऋषि करता है ।

रैवत मन्वन्तर (३१वीं महायुगी) से चाक्षुष मन्वन्तर (४९वीं महायुगी) – इस समय का नामकरण भूवैज्ञानिकों ने पुराजीवी कल्प अथवा Palaeozoic era किया है भारतीय कालगणना के अनुसार इस काल को छः विभिन्न कालावधियों में विभाजित किया गया है ।

रैवतमन्वन्तर (३१ से ५२वीं महायुगी) – इसका नामकरण पुराकम्ब्रियन या एलगोनिकन (Pre-cambrain or Algonican) युग किया है। प्रथम कालावधि रैवतमन्वन्तर की ३१वीं महायुगी के प्रारम्भ से ५२वीं महायुगी के अन्त तक जाती है । इस युग में स्लेट्, बालुका पत्थर एवं चूना पत्थर की शैलें पहली बार निर्मित हुई तथा इन शैलों में ही प्रथम जीवावशेष पाये जाते हैं । इन शैलों से पूर्व तो लावा निर्मित आग्नेय शैलों की सत्ता रही थी । आग्नेय शैलों की कठोरता तथा उष्णता में किसी भी प्रकार के जीवावशेष तथा जीवाश्मों का अध्ययन न हो पाया अतः पूर्व काल की जीवन-स्थिति का परिकलन जीवाश्मों एव जीवावशेषों के माध्यम से मिलना मुश्किल है ।

रैवत मन्वन्तर (५३-६६वीं महायुगी) – ५० से ४५ करोड़ वर्ष की इस कालावधि को भूवैज्ञानिकों ने आर्डोविसियन युग (Ordovician period) कहा है । इस युग में भूवैज्ञानिक ट्रिबलाईट्स (Tribilites) तथा ग्रेप्टेलाईट्स (graptalites) नामक विशिष्ट जीवों का विकास तथा समुद्री घास के रूप में प्रथम वनस्पति का उद्भव पाते हैं ।

रैवत मन्वन्तर ६७ से चाक्षुष ५वीं महायुगी– आधुनिक गणना में इसे सिलूरियन युग (Silurian Period)– (४४ से ४१ करोड़ वर्ष) कहा है। इस कालावधि में भूवैज्ञानिक स्थल पर वनस्पति एवं समुद्र में मछलियों की उत्पत्ति के चिह्न पाते हैं। अनेक पर्वत शृंखलाओं का जन्म भी केलिडोनियन भूसंचलन द्वारा इसी युग में माना जाता है।

४. **चाक्षुष मन्वन्तर (६-१७वीं महायुगी)** –(४० करोड़ से ३६ करोड़) की इस कालावधि को भूवैज्ञानिक डेवोनियन युग (Devonian Period) कहते हैं। इस युग को मछली युग भी कहा जाता है क्योंकि इस कालावधि में अधिसंख्य मछलियों की उत्पत्ति दृष्टिगत हुई। केलिडोनियन पर्वतों की ऊँचाई भी बढ़ी।

५. **चाक्षुष मन्वन्तर (१८ से ३७वीं महायुगी) :**– इस अवधि को कार्बोनिफेरस युग (Carboniferous Period) कहा गया है। इस कालावधि में सघन वनों की उत्पत्ति तथा भूभाग के अवतलन के कारण जलमग्न होने तथा अवसादों के निक्षेपण से मिट्टी में अधिक समय तक वनस्पतियों के दबे रहने के कारण कोयले का निर्माण पाया गया है। अतः इस युग को कोयला युग भी कहा गया है।

६. **चाक्षुष मन्वन्तर (३८ से ४९वीं महायुगी)** – इसे भुवैज्ञानिक पर्मियन युग (Permian Period– २७ से २३ करोड़ वर्ष) कहते हैं। इस युग में ताप वृद्धि के संकेत मिले हैं।

चाक्षुष मन्वंन्तर ५० से वैवस्वत १४ तक– इसकाल को भूवैज्ञानिकों ने मध्यजीवी कल्प (Mesozoic Era) के नाम से पुकारा है। इस काल को तीन कालावधियों में विभाजित किया गया है।

चाक्षुष मन्वन्तर (५० से ५९) – इसे आधुनिक वैज्ञानिकों ने ट्रियासिक युग (Triassic Period– २२ करोड़ से १९ करोड़) कहा है। इस कालावधि तक भूवैज्ञानिकों ने गोंडवाना को एक संयुक्त भूखण्ड के रूप में पाया है जिसमें भारत, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया जुड़े हुए थे। भौगर्भिक अनुसंधानों से ज्ञात होता है कि इस समय दक्षिणी गोलार्द्ध हिमाच्छादित एवं उत्तरी गोलार्द्ध शुष्क मरुस्थल था। इस समय भारत भी दक्षिणध्रुव के पास था। तथा उत्तरीध्रुवता (North Polarity) के भी इस युग में दक्षिण में होने के प्रमाण मिलते हैं। छोटे स्तनपायी जीवों के विकास के भी संकेत प्राप्त हुए हैं।

चाक्षुष मन्वन्तर (६० से ७१) – इस १८ से १४ करोड़ वर्ष पूर्व की कालावधि का नामकरण जुरासिक (Jurassic) युग किया गया है। इस युग में

डायनासोर जैसे विशालकाय एवं भयंकर प्राणी उत्पन्न हुए। पक्षी भी उत्पन्न हुए। स्थल भाग पर व्यापक मात्रा में ऊष्ण एवं शुष्क जलवायु के संकेत मिले हैं। भारत में राजमहल तथा सिलहट पहाड़ियों का निर्माण इसी मन्वन्तर अवधि में हुआ प्रतीत होता है।

वैवस्वत (१-१४) – १३ से ८ करोड़ वर्ष पूर्व की इस कालावधि का नामकरण क्रिटेशस युग (Cretaceous period) किया गया है। इस अवधि में उत्तरी गोलार्द्ध में व्यापक लावे का प्रवाह पाया गया है। भारत के दक्खिन के पठार पर भी ५ लाख वर्ग कि०मी० क्षेत्र पर लावा फैलने के संकेत मिले हैं। ओक, वालनट, विलो एवं नारियल वृक्ष भी इसी काल में उत्पन्न हुए होंगे ऐसा अनुमान लगाया गया है। भारतीय इतिहास हमें बताता है कि वैवस्वत युग के प्रारम्भ में उत्तरी भारत में, जो कि हिमाच्छादित था, ऊष्णता बढ़ने से व्यापक हिमप्रवाह हुआ। एवं वैवस्वत मनु की सन्तानों को हिमप्रवाह के कारण आये जलप्लावन के कारण उत्तर की ओर विसर्पण करना पड़ा।

वैवस्वत (१५-२८ त्रेता) – ७ करोड़ से २० लाख वर्ष पूर्व की अवधि वाले इस काल का नामकरण नवजीवी कल्प (Kainozoic or Tertiary era) किया गया है। इस काल को विभिन्न चार कालावधियों में बाँटा गया है।

१. **वैवस्वत (१५-२०)** – ७ करोड़ से ५ करोड़ वर्ष पूर्व वाली इस कालावधि को आधुनिक भूवैज्ञानिक इयोसीन युग (Eocene period) कहते हैं। इस युग में वैज्ञानिक अंटार्कटिका के दक्षिण-अफ्रीका तथा दक्षिण-अमेरिका से अलग होने के कारण हिन्द महासागर एवं अटलांटिक महासागर का विकास मानते हैं। हाथी, घोड़ा, गैंडा, सुअर, मगर तथा कछुए आदि के विकास का काल भी यही माना जा रहा है। आदिमानव (Ape Man) तथा गिब्बन का प्रादुर्भाव भी इसी काल में माना गया है। हिमालय की रचना का प्रारम्भ भी इसी काल में माना गया है तथा अफ्रीका आदि का गोंडवाना भूखण्ड से पार्थक्य इसी काल में ही हुआ।

२. **वैवस्वत (२१-२४)** – ४ से ३ करोड़ वर्ष पूर्व वाली इस कालावधि का नामकरण आलिगोसीन युग (Oligocene period) किया गया है। इस युग में सागरों के निवर्तन के (regression) के कारण स्थल भागों का विस्तार हुआ माना जाता है।बिल्ली, कुत्ता, भालू आदि का विकास एवं वानर का विकास माना गया है। पौराणिक साहित्य में स्थल भागों का विस्तार पृथु के समय माना गया है यही कारण था कि भूमि का नाम 'पृथिवी' रखा गया **पृथिवी प्रथनात्**।

३. वैवस्वत (२५से २७) – २ करोड़ से १ करोड़ ११ लाख वर्ष पूर्व वाली इस कालावधि को मायोसीन युग (Miocene period) कहा जाता है । शक्तिशाली भू-हलचलों के कारण सागरों का संकुचन तथा वलित पर्वतों का विस्तार माना गया है । वनस्पतियों का विकास, शार्कमछली, पेंग्विन बत्तख इत्यादि की उत्पत्ति भी इसी युग में मानी गई है ।

४. वैवस्वत (२७ से २८ त्रेता) – १ करोड़ से २० लाख वर्ष पूर्व वाली इस कालावधि को प्लायोसीन युग (Pliocene period) के नाम से जाना जाता है । भूवैज्ञानिकों का विचार है कि महासागरों एवं पर्वतों का वर्तमान रूप इसी काल में स्थिर हुआ । हिमालय के अन्तिम उत्थान स्वरूप शिवालिक श्रेणी उत्पन्न हुई ।

यहाँ पर यह संकेत करना आवश्यक है कि सरस्वती नदी का जन्म प्लायोसीन युग में शिवालिक श्रेणी के उत्थान के अनन्तर नहीं हुआ । परन्तु पुराणों के वर्णन से स्पष्ट है कि सरस्वती इयोसीन युग से पहले उस समय बहती थी जब हिमालय की रचना भी प्रारम्भ न हुई थी । वस्तुतः पुराणों के विवरण से स्पष्ट है कि सरस्वती उत्तर के सागर के बडवानल को लेकर पश्चिम के सागर की ओर बही थी । बडवानल समुद्र का संकेत करता है तथा यह उदीच्य सागर मानस सागर कहलाता था इसी को आधुनिक भूवैज्ञानिकों ने टिथीज सागर कहा है । टिथीज सागर की स्थिति आज से करीब २२ करोड़ वर्ष पूर्व ट्रियासीक युग अर्थात् चाक्षुष मन्वन्तर की ५०वीं महायुगी के करीब थी । उस समय भारत की स्थिति दक्षिणीध्रुव के पास थी तथा पूरा सागर हिमाच्छादित था तथा उस समय उत्तरीध्रुवता (North polarity) भी दक्षिण गोलार्द्ध में थी । हिमाच्छादित सागर मानस (Glaciated sea) से ही प्लक्ष प्रस्रवण (आधुनिक पिलखुवा) नामक स्थान से ही सरस्वती गंगा की धारा से अलग होती थी ।

५. वैवस्वत (२८ द्वापर) – वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर की वर्तमान महायुगी के द्वापर युग के आरम्भ से लगभग १$\frac{१}{२}$ लाख वर्ष पूर्व (अर्थात् लगभग १० लाख वर्ष पूर्व) से आरम्भ होने वाले इस काल को नवीन कल्प (Neozoic era or Quaternary era) के नाम से जाना जाता है । इस काल को दो कालावधियों में बाँटा गया है ।

(१) वैवस्वत २८ द्वापर के प्रारम्भ से १$\frac{१}{२}$ लाख वर्ष पूर्व की कालावधि को प्लीस्टोसीन (Pleistocene period) कहा गया है । इसे महान् हिमकाल (The Great ice age) भी माना गया है । इस हिमकाल में कार्बोनिफेरस (३५ करोड़ वर्ष पूर्व अर्थात् चाक्षुष मन्वन्तर १८-३७) की अपेक्षा विस्तृत क्षेत्र हिमाच्छादित हुए ।

अनुमान है कि केवल कलियुग के आरम्भ से ५००० वर्ष पूर्व ही हिमचादर हट सकी। परन्तु प्राचीन भारतीय साहित्य इस तथ्य की पुष्टि नहीं करता। उत्तरी अमेरिका में चार बार हिम प्रसार (हिमयुग) तथा हिम निवर्त्तन हुआ। जलवायु परिवर्तन से व्यापक स्तर पर जीव-जन्तुओं के स्थानान्तरण के संकेत मिले है। मानव प्रजातियों का विकास भी इसी युग में माना जाता है।

(२) **वैवस्वत कलिपूर्व ५००० वर्ष**– इस अवधि का होलोसीन युग (Holocene period) के नाम से अध्ययन किया गया है। इसी कालावधि के प्रारम्भ में हिमचादर के पीछे हटने (retreat) एवं जलवायु उष्ण होने के कारण यूरोप में वनों का विकास हुआ। उत्तरी अफ्रीका तथा मध्य एशिया में विशाल मरुस्थलों की उत्पत्ति हुई। भूवैज्ञानिकों को भ्रम है कि आधुनिक मानव का जन्म भी इसी काल में हुआ होगा। वस्तुतः यह काल अश्विनी नक्षत्र में वसन्तसम्पात के प्रारम्भ होने से पहले ठहरता है। वेदों में वर्णित अश्विनी नक्षत्र से वर्षारम्भ की सूचना के आधार पर वेदों के ऋषियों का न्यूनातिन्यून काल आज से लगभग १०,००० वर्ष पूर्व आ जाता है। तथा यदि सरस्वती नदी के सूखने के अनुमान के आधार पर अश्विनी नक्षत्र की स्थिति को देखते हैं तो वेदों का रचनाकाल लगभग ६०,००० वर्ष पूर्व चला जाता है। यदि सरस्वती के प्रारम्भ को, जैसा कि यूरोप में वर्णित है तथा जैसा वर्णन वेदों में उपलब्ध है, लेते हैं तो मानव की उपस्थिति भूमण्डल पर २२ करोड़ वर्ष पहले तक चली जाती है। अतः हमारा कथन है कि भारतीय कालगणना के परिप्रेक्ष्य में मानव की स्थिति को २ अरब वर्ष पहले मान कर चला जाये तो इसमें कोई दोष न होगा। होलोसीन युग में मानव के विकास की कल्पना अत्यन्त हास्यास्पद है।
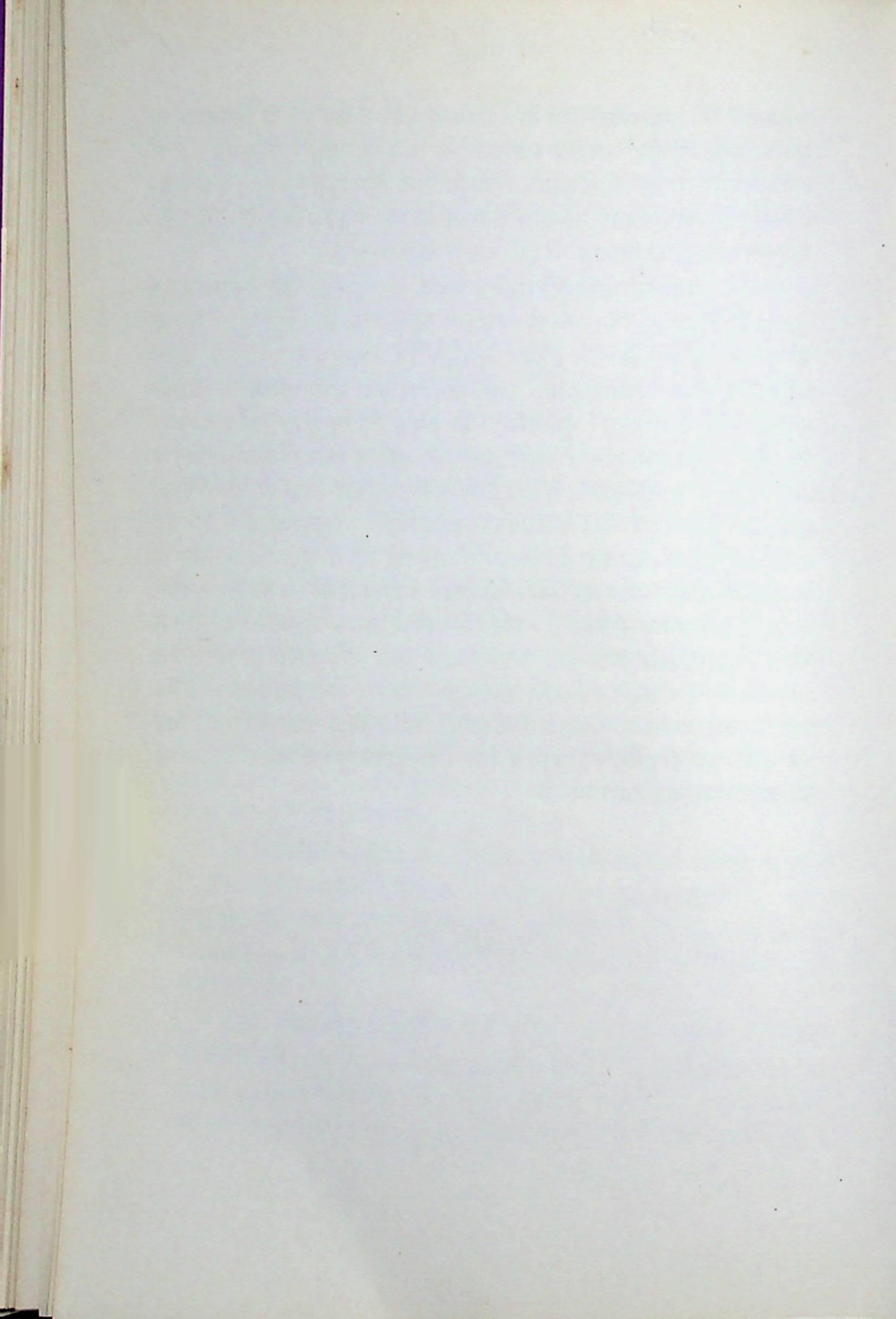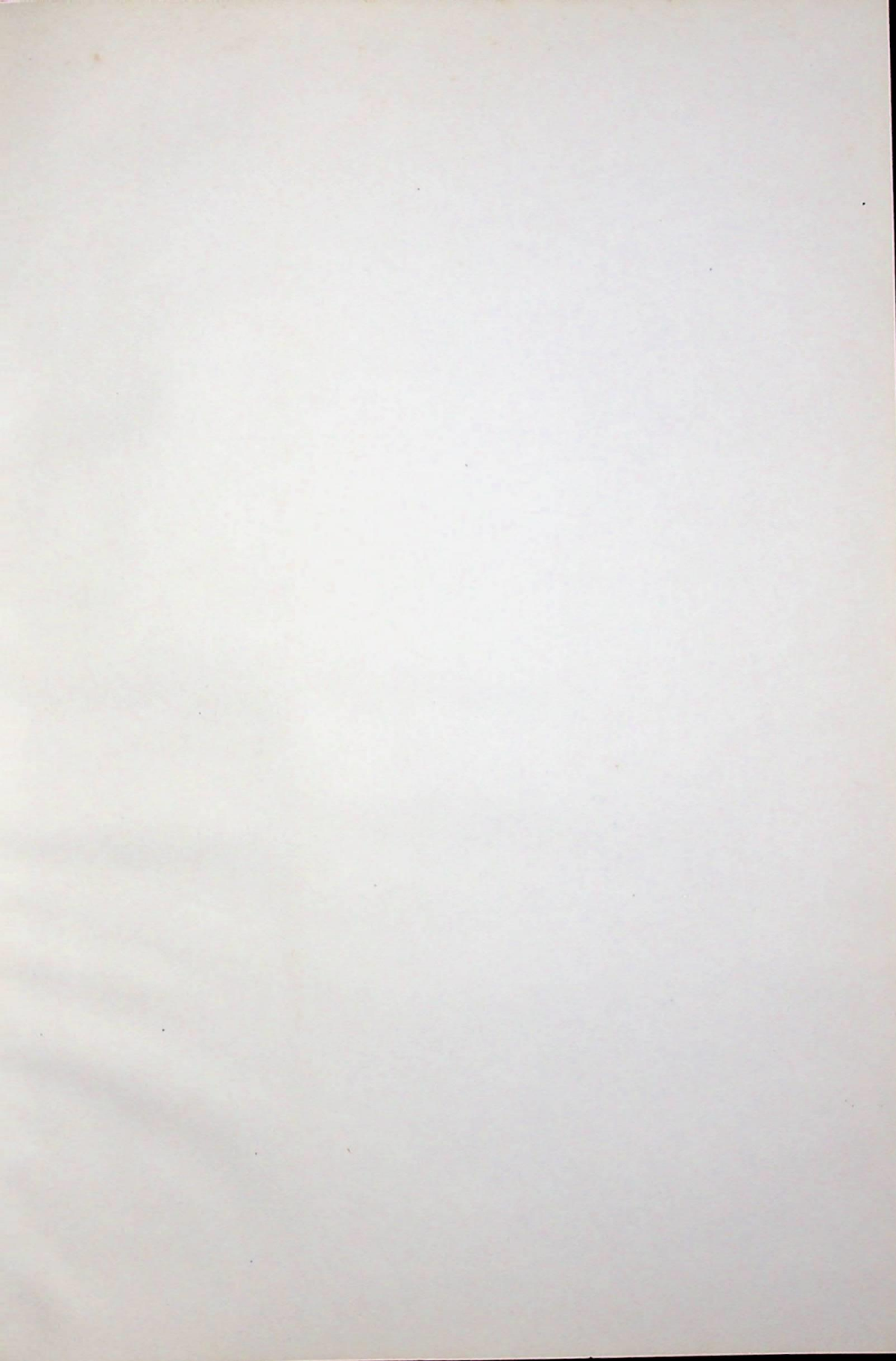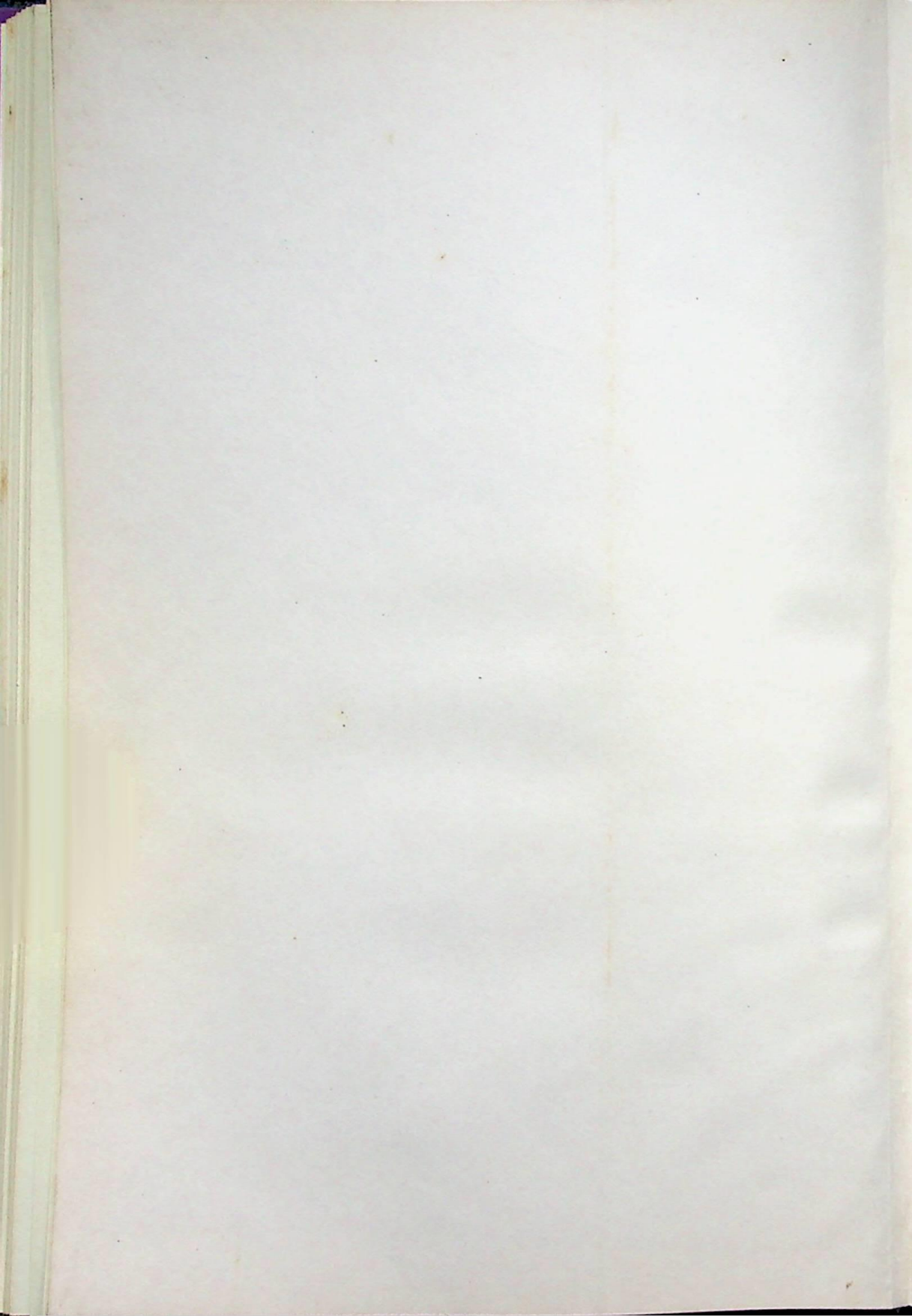
प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के लेखक डॉ० रविप्रकाश आर्य वैदिक साहित्य संस्कृति तथा भारतीय भाषाविज्ञान के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। आप वैदिक विज्ञान, भाषाविज्ञान एवं वेदार्थ प्रक्रिया के गूढ़ रहस्यों के उद्घाटन में निरन्तर रत हैं। आप 'वैदिक साईन्स' त्रैमासिक पत्र के सम्पादक हैं। आप द्वारा लिखित दो दर्जन से भी अधिक शोध पत्र विभिन्न राष्ट्रीय एवं अन्ताराष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

डॉ० आर्य लगभग एक दर्जन से भी अधिक ग्रन्थों का प्रणयन एवं सम्पादन कर चुके हैं, जिनमें से निम्नलिखित प्रकाशित हो चुके हैं:–

1. *Researches into Vedic and linguistic studies*
2. *Vedic Meteorology*
3. *Vedic and Classical Sanskrit– A contrastive Analysis.*
4. *Vedic Theory of the Origin of Speech.*
5. *Sāmaveda* Edited with English Translation of Griffith.
6. *Yajurveda* edited with English Translation of Griffith.
7. *Ṛgveda* edited with English Translation following Sāyaṇa and Wilson (Four Vols.)

निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशनाधीन हैं।

8. *Yogavāsiṣṭha* (four Vols.) edited with English translation.
9. *Concordence of Vedic Ṛṣis and Devatās.*
10. A Critical Study and English Translation of *Sāmavedārṣeyadīpa.*
11. *Vedic Concordence of Mantras*
12. *Rediscovering Vedic Sarasvatī*

प्रस्तुत 'भारतीय कालगणना का वैज्ञानिक एवं वैश्विक स्वरूप' भी इसी श‍ृङ्खला में एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। आप विभिन्न शैक्षिक संस्थाओं से जुड़े हुए हैं। आप अखिल भारतीय इतिहास सङ्कलन योजना, दिल्ली प्रान्त के लेखक प्रमुख हैं। वर्तमान समय में आप हरियाणा राजकीय सेवा में वरिष्ठ संस्कृत प्राध्यापक के पद पर कार्यरत् हैं।